करें साक्षात्कार यथार्थ धर्म, भाव का !

लेखक :-वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी

अमेरिका में वैज्ञानिक जैन धर्म का प्रचार 5 सप्ताह करके भारत वापिस आने पर डॉ. एन.एल. कच्छारा को सम्मान समारोह सभा में आशीर्वाद प्रदान करते हुए आ. कनकनन्दी गुरूदेव ससंघ

चौथी "कौन बनेगा ज्ञानवान्" प्रतियोगिता के अवसर पर ग्रंथ विमोचन का एक दृश्य (आयड़–उदयपुर)

जैन तथ्य जो आधुनिक विज्ञान से परे (ज्ञान धारा-6)
Jain Facts : Beyond Modern Knowledge

करें साक्षात्कार यथार्थ धर्म, भाव का !

लेखक

वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव

प्रकाशक

धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बडौत)
धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर) ग्रंथाङ्क - 149

संस्करण - प्रथम - 2005
प्रतियाँ - 1000
मूल्य - 40.00/- रुपये

द्रव्यदाता / ज्ञानदाता

स्व. सोहनलाल जी वरदावत की पुण्य स्मृति में
पत्नी - श्रीमती शान्तादेवी सोहनलाल जी वरदावत
एवं सुपुत्र रजनीकान्त, हँसमुख, विनोद, दिलखुश की ओर से
श्रीमती शांतादेवी वरदावत
द्वारा - रजनीकांत जी जैन
23, सारणी सेहरी, नरसिंहपुरा नोहरे के पास
मण्डी की नाल, उदयपुर - 313001 (राज.)

मुद्रक
जैन प्रिन्टर्स, उदयपुर

विभिन्न विद्वानों की राय में आचार्य श्री कनकनंदी जी का व्यक्तित्व

1) जे. एम. हुम्मड, विशिष्ट शोध प्राचार्य, कालर्टन विश्व विद्यालय ओटावा, कनाडा.:- परमपूज्य जैनाचार्य श्री कनकनंदी जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन उस वैज्ञानिक ज्ञान की गवेषणा को समर्पित कर रखा है जो कि जैन दर्शन का मूल आधार है। आचार्य श्री एक बहु कृतिक लेखक हैं जिन्होंने जैन दर्शन, सिद्धान्त व ज्ञान मीमांसा पर 146 पुस्तकें लिखी हैं।

2) वैज्ञानिक एवं 28 यंत्रों के आविष्कारक इं. सुल्तान सिंह जैन, वर्धमान हॉस्पिटल, सिविल लाईन, रुडकी - आचार्य कनकनंदी जी गुरुदेव द्वारा लिखित ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक एवं रसायन विज्ञान ग्रंथ (पुस्तक) पढने के पश्चात् उन तथ्यों का ज्ञान हुआ जिन्हें विशेष ज्ञान कहा जा सकता है। जिन्हें जानने के लिए जैन दर्शन के मनीषियों के और गौतम गणधर के उन प्रयासों तक के चिन्तन में उतरना होगा जेा उन्होंने तीर्थंकर महावीर और अन्य तीर्थंकरों के उपदेशों और वाणी खिरने से लेकर उनके विचारों और भावों तक को उन ग्रंथों में संकलित किया जो हजारों वर्ष पूर्व जैन ग्रंथों की धरोहर के रूप में भोज पत्रों में उकेरे गये थे। धर्माचार्य गुरुदेव ने उन अप्राप्य ग्रंथों को और उनकी कतरनों को एक सुदृढ रूप में रुचि पूर्वक जो उनके संकलन का प्रयास किया है वह एक योगी ही कर सकता है, संत ही कर सकता है जिसे भौतिक संसार से वियोग हो गया है।

3) अंतरिक्ष वैज्ञानिक प्रो. राजमल जैन, फिजिकल रिसर्च सेंटर नवरंगपुरा, अहमदाबाद. - विलक्षण व्यक्तित्व ! मैं उनके ज्ञान, बुद्धिमत्ता और उनकी विद्वत्ता को देखकर बडा, उत्साहित, आश्चर्यचकित और आश्चर्य हुआ जब 1997 में मैं उनके सम्पर्क में आया। वह एक महान् व्यक्ति, दार्शनिक व विचारक हैं।

4) डॉ. नारायणलाल कछारा, भूतपूर्व निर्देशक कमला नेहरु प्रौद्योगिकी संस्थान

आचार्य श्री एक साथ संत, साधक, शहीद, समाज सुधारक, मनीषी एवं शोधार्थी हैं जो किसी भी पंथ, मत, राष्ट्र की सीमा से परे होकर सत्य एवं विश्व कल्याण के लिए कार्य कर रहे हैं जिन्होंने अपना पूरा जीवन ही शोध को समर्पित कर दिया है।

5) डॉ. प्रो. एम. एम. बजाज, दिल्ली विश्वविद्यालय - आज आचार्य श्री को धर्म क्षेत्र में नहीं होकर वैज्ञानिक क्षेत्र में होना चाहिए। हम तो सामान्य वैज्ञानिक हैं लेकिन आचार्य श्री तो परम् वैज्ञानिक हैं। इनके सिद्धांतो का प्रचार-प्रसार देश-विदेश के विश्व विद्यालयों में होना चाहिए।

वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनंदी जी गुरुदेव - व्यक्तित्व एवं कृतित्व

सन 1954 में उत्कल (उडीसा) प्रान्त के ब्रह्मपुरी ग्राम में माता श्री रुक्मणी देवी की कोख से एवं पिता मोहनचंद प्रधान के घर एक दिव्य नक्षत्र उदीयमान हुआ जिसका नामकरण गंगाधर प्रधान के रूप में हुआ। बालक गंगाधर प्रधान आगे चलकर (सद्य में) जैन धर्म के वैज्ञानिक आचार्य कनकनंदी गुरूदेव के नाम से प्रसिद्ध हैं। राष्ट्र में व्याप्त अन्याय, भ्रष्टाचार , हिंसा से द्रवित होकर इन सबके निवारण के लिए तत्पर सत्य जिज्ञासा, आत्म कल्याण के साथ विश्व कल्याण की भावना से प्रेरित होकर बालक गंगाधर प्रधान ने दीक्षा ग्रहण की। आपने अपने विद्यार्थी जीवन में स्व अन्तःप्रेरणा से स्वेच्छासे आजीवन ब्रह्मचर्य स्वीकारा। सन 1978 में अतिशय क्षेत्र पपौरा (म.प्र.) में आपने क्षुल्लक दीक्षा ली 5 फरवरी 1981 को मुनि दीक्षा श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) में पूज्य गणधराचार्य कुंथुसागरजी महाराज से ग्रहण की। आपकी शिक्षा प्रदात्री प्रमुख गुरु गणिनी आर्यिका विजयमति माताजी हैं। आपकी ज्ञान जिज्ञासा तथा साधुसंघ को प्रशिक्षण देने की योग्यता को देखकर आचार्य कुंथुसागर महाराज ने आपको 25 नवम्बर 1982 को हासन (कर्नाटक) में उपाध्याय पदवी प्रदान की। इसी दौरान आपको सिद्धान्त चक्रवर्ती, एलाचार्य, विश्व धर्म प्रभाकर, ज्ञान विज्ञान दीवाकर आदि उपाधियों से नवाजा गया। सन 1996 में उदयपुर (राजस्थान) में गणधराचार्य कुंथुसागर द्वारा सकल दिगम्बर जैन समाज उदयपुर के समक्ष आचार्य पदवी प्रदान की संस्कार आचार्य अभिनंदनसागर जी महाराज ने प्रदान किये एवं आचार्य पद्मनंदी जी का ससघ सानिध्य रहा। ''विज्ञान आंशिक धर्म है किंतु धर्म पूर्ण विज्ञान है'' ''आप मुझे सहयोग दें मैं आपको वैज्ञानिक धर्म दूँगा'' आचार्य श्री के प्रेरक वक्तव्य हैं।

राजनीति में भ्रष्टाचार, सामाजिक शोषण, अन्याय, अत्याचार, ढोंग, पाखंड देखकर आचार्य श्री का हृदय द्रवित हो उठता है और यही आचार्य श्री की कामना रही कि वे ज्ञान विज्ञान का प्रचार कर लोगों में जागृति पैदा कर सके । आचार्य श्री का मानना है कि जैन धर्म पूर्ण वैज्ञानिक धर्म है। विज्ञान जो बाते आज बता रहा है वे बातें जैन धर्म में लाखों, करोडों वर्ष पूर्व ही लिखी हुई हैं। जैसे वैज्ञानिक खोज से यह बात साबित हुई है कि जल की एक बून्द में 36450 जीव होते हैं जबकि जैन धर्म में लिखा है कि जल की बूंद में असंख्यात जीव होते हैं। अतः पानी छानकर पीना चाहिए।

शताधिक ग्रंथों के रचियता आचार्य श्री कनकनंदी जी की प्रमुख कृति में

सर्वोदय शिक्षामनोविज्ञान, जिनार्चना, स्वतंत्रता के सूत्र, संस्कार, ब्रह्माण्डीय जैविक भौतिक एवं रसायन विज्ञान, अनन्त शाक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा, विश्व द्रव्य विज्ञान, विश्व विज्ञान रहस्य, स्वप्न विज्ञान, भविष्य फल विज्ञान, मंत्र विज्ञान, सर्वाङ्ग सामुद्रिक शास्त्र, Body Lunguage , ब्रह्माण्ड के रहस्य, व्यसन का धार्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण, भारतीय आर्य, धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान, धर्म दर्शन एवं विज्ञान आदि कुछ बहु चर्चित कृतियाँ हैं।

आपने ''धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान,'' बडौत व ''धर्म दर्शन सेवा संस्थान,'' उदयपुर की स्थापना की। जिनकी शाखायें मुजफ्फरनगर, बडौत, प्रतापगढ, सलुम्बर, उदयपुर, कोटा, मुंबई व अमेरीका में हैं।

संस्थान के प्रमुख उद्देश्य :- सत्य, न्याय, अहिंसा, प्रेम, सहयोग, सेवा, त्याग, सहिष्णुता व ज्ञान-विज्ञान का प्रचार-प्रसार है।

आपने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार मे लिए कम्प्यूटर युग में इन्टरनेट वेबसाईट का शुभारंभ किया है। वेबसाईट का नाम **www.jainkanaknandhi.org** एवं **E-mail : info@ jainkanaknandhi.org** है। आपने आज तक छः राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठियाँ आयोजित की हैं। जिसका उद्देश्य है जैन धर्म पूर्ण वैज्ञानिक धर्म है। जिसमें देश - विदेश के जैन अजैन प्रख्यात शिक्षाविद्, वैज्ञानिक, इंजीनियर, डॉक्टर, लेखक, पत्रकार, समीक्षक भाग ले रहे हैं। २६ धार्मिक प्रशिक्षण शिविर लगाये हैं जिनका उद्देश्य है बालकों को धार्मिक संस्कार देना, अनुशासन, मुनिगणों को आहार देने की विधि सिखाना, योग, नैतिक शिक्षा देना, मनोबल बढाना। बच्चे आपको बहुत प्रिय हैं। आप बच्चों से आहार लेते है क्योंकि बच्चे देश के भविष्य हैं। आपका मानना है कि बच्चों में छोटी उम्र में संस्कार डालना आसान होता है यदि संस्कार नहीं देंगे तो धर्म लुप्त प्रायः हो जायेगा ।

आचार्य श्री विदेश में भी धर्म प्रचार का कार्य कर रहे हैं। प्रद्युम्न एस. झवेरी, अमेरीका के सहयोग से संस्थान की स्थापना अमेरिका में की है। इसी क्रम में जुलाई 2003 में अंतरिक्ष सौर वैज्ञानिक (इसरो) प्रोफेसर राजमल जैन, सिडनी (ऑस्ट्रेलिया) में आचार्य श्री के उद्देश्य, साहित्य एवं संस्थाका प्रचार करके लौटे हैं। जैन धर्म में कर्म सिद्धान्त, अनेकान्त सिद्धान्त (सापेक्ष सिद्धान्त) आलौकिक गणित, जीव विज्ञान आदि का आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आचार्य श्री प्रशिक्षण देते हैं। संस्थान के डॉ. नारायणलाल कछारा अमेरिका में धर्म प्रचार के लिए जाकर आये हैं। आचार्य कनकनंदी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त धर्म दर्शन सेवा संस्थान के कार्यकर्ताओं ने जैन विश्व

भारती संस्थान, लाडनू में आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी के साथ आगामी कार्य योजना संबन्धी चर्चा की एवं आचार्य श्री द्वारा लिखित, अनुदित, संपादित 80 ग्रंथ विश्व विद्यालय में अध्ययन एवं शोध के लिए प्रदान किए। एतदर्थ विश्व विद्यालय में ''आचार्य कनकनंदी कक्ष'' की स्थापना की गई।

सेठ मोतीलाल (पी.जी.) कालेज झुंझुनु, (राजस्थान) में आचार्य श्री की रचनाओं में वर्णित ज्ञान विज्ञान पर विद्यार्थिगण डॉ. बी. एल. सेठी के निर्देशन में शोध (Reseacrh) कर रहे हैं।

आचार्य श्री एन. सी. ई. आर. टी. नई दिल्ली को भी शिक्षा में परिवर्तन संबंधी सुझाव समय समय पर दे रहे हैं। राज्य की शैक्षणिक संस्थान एस. आई. ई. आर. टी. को भी समय समय पर सुझाव दे रहे हैं। आचार्य श्री को राजस्थान पत्रिका में उनके लेख के लिए दो पुरस्कार मिले हैं।

जैन धर्म में वर्णित अनेकान्त सिद्धान्त एवं स्याद्वाद, महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन के सापेक्ष सिद्धान्त से भी अधिक व्यापक एवं पूर्ण है; भौतिक रसायन एवं अणु सिद्धान्त, आधुनिक विज्ञान से भी अधिक सूक्ष्म व्यापक एवं पूर्णता को लिए हुए हैं, वैज्ञानिक डार्विन के जीव विज्ञान से भी श्रेष्ठ भ्रांति रहित जीव विज्ञान (जीव समास, मार्गणास्थान) है। मनोवैज्ञानिक फ्रायड के मनो विश्लेषण से भी अधिक सूक्ष्म परिपूर्ण भ्रांति रहित लेश्या मनोविज्ञान, कषाय विश्लेषण, संज्ञा प्रकरण है। आधुनिक खगोल से भी व्यापक लोक आलोक का वर्णन है जिसका प्रचार प्रसार साहित्य एवं धर्म दर्शन विज्ञान शोध एवं सेवा संस्थान के माध्यम से आचार्य श्री कर रहे हैं।

भारत में बूचडखाना, हिंसा, शराब, नशीली वस्तु एवं सिनेमा में अश्लीलता का प्रचार प्रसार हो रहा है जिस पर आचार्य श्री विभिन्न संस्थाओं के सहयोग से लोकहित याचिका, जन जागृति, तेजस्वी, ओजस्वी प्रवचन आदि के माध्यम से विरोध कर रहे हैं जिसके लिए आचार्य श्री सभी धर्मों का सहयोग समन्वय चाहते हैं।

आचार्य श्री केवल विद्यार्थी से लेकर लेक्चरार, प्रोफेसर, वैज्ञानिकों को ही नहीं पढाते अपितु स्व संघ के एवं पर संघ के करीबन 300 आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारिणी तथा शताधिक विद्वनों को भी प्रशिक्षण प्रदान किया एवं कर रहे है।

(पत्रकार - मुकेश जैन, उदयपुर)

सुख-शांति के उपाय : सत्य-धर्म एवं पवित्र भाव

हृदयोद्गार

''असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय'' या **''सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग:''** आदि महान् प्रेरणाप्रद, नित्य नूतन-नित्य पुरातन, ज्योतिर्मय, गहन, गंभीर, शाश्वतिक, वैश्विक, सार्वभौम सूत्र विश्व को सत्य निष्ठ, ज्ञानवान्, चारित्रनिष्ठ, अहिंसक, पूर्णता, पवित्र, सुखी बनने के उपदेश देते हैं। विश्व के प्रत्येक जीव का सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्येष्ठ अंतिम लक्ष्य सुखशांति को प्राप्त करना है परंतु जब तक सत्य-असत्य, ज्योति-तमस, अमृत-मृत, सम्यक् श्रद्धा - मिथ्या श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान - मिथ्या ज्ञान, सम्यक्चारित्र-मिथ्याचारित्र का यथार्थ परिज्ञान नहीं होगा तब तक असत्य को त्यागकर सत्य को स्वीकारना/प्राप्त करना संभव नहीं हैं। इसी प्रकार ज्योति, अमृत, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र आदि के लिए भी जान लेना चाहिए। अतएव **''बिन जानन ते दोष गुणन को कैसे तजिए गहिये''** के अनुसार गुणों के साथ-साथ दोषों का भी परिज्ञान होना केवल आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

1) करें साक्षात्कार यथार्थ धर्म का – वस्तुत: वस्तु के स्वभाव या सत्य, समता, अहिंसा, सदाचार, परोपकार, पवित्रता आदि ही धर्म है। क्योंकि इससे स्व-पर को सुख-शांति मिलती है। परंतु असत्य-विषमता, हिंसा, भ्रष्टाचार, पर-अपकार, मलीनता आदि अधर्म है। क्योंकि इससे स्व-पर को दु:ख-अशांति मिलती है। परंतु अधिकांश व्यक्ति स्व-धर्म मतानुसार यत्किञ्चित् क्रिया-काण्डों का बाह्यत: पालन मात्र को ही धर्म मानकर सत्य आदि यथार्थ को न जानते हैं, न मानते हैं, न आचरण करते हैं। इसलिए वे उन क्रिया-काण्डों को करते हुए भी न स्वयं शांति को प्राप्त करते हैं न दूसरों को शांति प्रदान कर पाते हैं।

जिस प्रकार भ्रम से मृगमरीचिका को मृग पानी मानकर उसे पीने के लिए दौडता है परंतु मृगमरीचिका वस्तुत: पानी नहीं होने के कारण उसे प्राप्त नहीं कर पाता है किंतु परिश्रम के कारण और भी अधिक भूखा-प्यासा, थका-मांदा होकर दु:खी होता है या मर जाता है उसी प्रकार अज्ञानी-मोही-संकीर्ण कट्टर-धर्मांध व्यक्ति उपरोक्त धर्म के यथार्थ स्वरूप को जाने-माने-आचरण किये बिना धार्मिक क्रिया-काण्ड रूपी मृगमरीचिका को ही धर्म मानकर उससे सुख-शांति प्राप्त करने के भ्रमात्मक प्रयास से और भी अधिक दु:खी होता है। विभिन्न धार्मिक पंथ-मत-परम्परा में जो परस्पर में राग-द्वेष-ईर्ष्या, वैमनस्य, संघर्ष, युद्ध, कलह आदि है उसके मूल में यह एक मुख्य कारण है।

2) करें साक्षात्कार यथार्थ भाव का – जो सत्स्वरूप है, सहज स्वरूप है, जो

सत्तात्मक है उसे भाव कहते हैं। सत्/सत्य शाश्वतिक, सार्वभौम होने से सबसे श्रेष्ठ है, सबसे ज्येष्ठ है। अतएव जिसके भाव/भावना/परिणाम सत्यनिष्ठ है उसके भाव भी सत्य, शाश्वतिक, सार्वभौम, श्रेष्ठ-ज्येष्ठ है । सत्य निष्ठ भाव उसके है जिसके भाव में संकीर्णता, अपना-पराया, अंधविश्वास, हठग्राहिता, ईर्ष्या-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, आकर्षण-विकर्षण, द्वन्द, अहंकार-ममकार आदि न हो तथा उदारता, व्यापकता, समता, सत्य, जिज्ञासा, नम्रता, सरल-सहजता, निर्लोभता, पवित्रता आदि गुण हो। सत्य निष्ठ-पवित्र उत्तम भाव के लक्षण है मन में शांति, हलकापन, अक्षुब्धता, सत्साहस/धैर्य, निर्भयता, अनाक्रमणता आदि तो इससे विपरीत असत्य-अपवित्र-निकृष्ठ भाव के लक्षण है। मन में तनाव, अशांति, विक्षुब्धता, क्रूरता, दु:साहस, असहिष्णुता, प्रतिशोधन की प्रवृत्ति भी मानसिक लक्षण है। प्रकारान्तर से कहे तो सत्य निष्ठ-पवित्र-उत्तम भाव ही धर्म है तथा इससे विपरीत भाव ही अधर्म है। परंतु जिस प्रकार मादक/नशीली वस्तु के सेवन से व्यक्ति मदमस्त होकर विभ्रम, बेहोश होकर यथार्थ को न जानता है, न मानता है, न करता है, न आचरण करता है उसी प्रकार मोह, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-तृष्णा से युक्त व्यक्ति यथार्थ भाव को न जानता है, न मानता है, न आचरण करता है परंतु इससे विपरीत अयोग्य भाव को जानता है, मानता है, आचरण करता है। इसके कारण ही जीव अनादि कालसे दु:खी है। अत: सुखेच्छु व्यक्तियों को यथार्थ धर्म, भाव का परिज्ञान करके तदुनुकूल आचरण करना चाहिए। जिससे सुख-शांति की उपलब्धी हो। इस उद्देश्य से मैंने (आ.कनकनंदी) यह सब लिखा है।

इस कृति के सुलेख आदि में मेरे शिष्य- प्रियंका भोजावत, प्रियंका कुणावत, प्रतिभा कुणावत, कोमल भोरावत, आँचल जैन, पायल जैन, जंयत चित्तौडा (उदयपुर) तथा कंपोजिंग में क्षुल्लक सच्चिदानंद, आर्यिका ऋद्धिश्री, आर्यिका जिनवाणी, आर्यिका गुरुवाणी आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इसके प्रकाशन का अर्थभार स्व. सोहनलाल जी वरदावत की पुण्य स्मृति में शान्ताबाई, हँसमुख, दिलखुश, विनोद, रजनीकांत जी ने वहन किया। इन्होंने वर्तमान में चल रहा धवला स्वाध्याय के लिए धवला के 16 भाग भी संघ में ज्ञान दान में दिया। एतदर्थ उपर्युक्त समस्त सहायता एवं ज्ञानदाताओं को मेरा मंगलमय शुभाशीर्वाद है। इसी प्रकार प्रेसवालों को भी मेरा शुभाशीर्वाद है। इसके अध्ययन से स्वयं को सत्यनिष्ठ एंव पवित्र भाव से युक्त करने वालों को भी मेरा शुभाशीर्वाद है। विश्व सत्य एवं पवित्र भाव से युक्त होकर शाश्वतिक सुख-शान्ति को प्राप्त करें ऐसी शुभ मंगल उदात्त भावना के साथ -

सत्य के पूजारी
आचार्य कनकनंदी
उदयपुर (राज) 6-8-05

अनुक्रमणिका

A) धर्म

1) भ. महावीर का धर्म उदारवादी, वैज्ञानिक, गणितीय, सर्वोदयी है 09
2) आत्मशोधक पर्यावरण वैज्ञानी , विश्वशांति के प्रवक्ता भ. महावीर 12
3) सर्वोदय क्रांति के अग्रदूत भ. आदिनाथ (ऋषभदेव) 16
4) संकीर्ण स्वार्थ अहिंसा तथा उदार निस्वार्थ अहिंसा 20
5) धर्म के अभाव से सुख नहीं सुख भी है 27

B) भाव

1) परिणाम (भाव) से संभव परिणाम (फल) 36
2) स्वाभिमान से विकास दुराभिमान से विनाश 52
3) निंदा रूपी नीम तथा प्रशंसा रूपी मुलेठी से करें स्वास्थ्य लाभ 63

C) वैज्ञानिक जैन धर्म प्रचार हेतु ''मेरी अमेरिका यात्रा'' 72

डॉ. एन. एल. कछारा

आचार्य श्री कनकनंदीजी गुरूदेव के साहित्य का विमोचन करते हुए गणिनी आर्यिका विजयमती माताजी

भ. महावीर का धर्म उदारवादी - वैज्ञानिक - गाणितिय सर्वोदयी है ।

मुझे लोग विभिन्न सन्दर्भ में प्रश्न करते हैं कि गुरुदेव आप प्रवचन, शिविर, संगोष्ठी , लेख, ग्रंथों, कक्षादि में क्यों सिद्ध करते हो कि भ. महावीर का धर्म उदारवादी वैज्ञानिक-गाणितिय-सर्वोदयी, वैश्विक, अनादि अनंत शाश्वतिक, सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी, वस्तु स्वभावात्मक जीवधर्म है ? इस प्रश्न का सविस्तार उत्तर मैंने मेरी 150 पुस्तकों में दिया है तथापि संक्षिप्त तथा सारगर्भित उत्तर चाहनेवालों के लिए महावीर जयन्ती के उपलक्ष्य में मंगल आशीर्वाद सहित यह संक्षिप्त शोध लेख उपहार स्वरुप समर्पण कर रहा हूँ। वैसे तो भ. महावीर का धर्म गुणगणों से अलंकृत है तथापि इस संक्षिप्त लेख में तीन विशेषणों/ गुणों के बारे में प्रकाश डालूँगा।

1) उदारवादी वैज्ञानिक धर्म

भ. महावीर ने कोई परिकल्पित मत/पंथ/धर्म को न स्वीकारा, न परिपालन किया, न प्रतिपादन किया परंतु उनका धर्म तो सत्य-तथ्यात्मक, वस्तुस्वभावात्मक है। सत्य (वस्तु, द्रव्य) में अनंत गुण - धर्म, अवस्था - पर्याय, पक्ष - पहलू अनन्त होने से उसे उस रूप में जानना - मानना - प्राप्त करने को भ. महावीर ने अनेकान्त धर्म कहा है। उन्होंने कहा सत्य के अनंत अंशों में से कोई एकाध अंश को जानकर - मानकर या ग्रहण करके शेष अन्यान्य अंशों को नकारना सत्य को नकारना है, संकीर्णता है, भावहिंसा है, हठग्राहिता है, कूपमंडूकता है, धर्मांधता है, मिथ्या है, जडता है, निष्क्रियता है। सत्यांश को ''सत्यांश'' जान-मान-ग्रहण करते हुए भी शेष सत्यांश को जानने - मानने तथा ग्रहण करने के लिए पुरुषार्थ करना सत्य ग्राहिता, भाव अहिंसा, सत्य निष्ठा, उदारता, प्रगतिशीलता, वैज्ञानिकता, शोधात्मक-बोध है। इसके माध्यम से भ. महावीर ने विश्व को यह दिव्य-संदेश दिया कि ''जो खरा है सो मेरा है'' (Right is mine) मानो न कि ''जो मेरा है सो खरा'' (Mine is right) मानो। भ. महावीर की इस वैचारिक पद्धति को अनेकान्त सिद्धान्त (सापेक्ष सिद्धान्त) तथा वाचनिक पद्धति को, प्रतिपादन की पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं। इसीलिए भ. महावीर का धर्म उदारवादी वैज्ञानिक है।

2) गाणितिय धर्म

भ. महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म की दूसरी विशेषता / मौलिकता है गणित। उन्होंने जीव - अजीव, मूर्तिक - अमूर्तिक आदि द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ, गुण, पर्यायादि की संख्या, इयत्ता, गुणवत्ता (क्वांटिटि, क्वालिटि) आदि का वर्णन गणित से किया है। **''सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च।''** अर्थात् सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व से भी सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है।

सत्य सबसे पहले सत् (अस्तित्त्व) स्वरूप होता है। क्योंकि सत्य सदा - सर्वदा - सर्वथा - सर्वत्र परिवर्तनशील होते हुए भी शाश्वतिक/अविनाशी है तथा असत्य कभी सत् /अस्तित्त्व स्वरूप नहीं हो सकता। परम सत्य का सम्पूर्ण ज्ञान सर्वज्ञ को होता है। अतः सत्य /ज्ञेय को जानने का परम साधकतम माध्यम/कारण सर्वज्ञता है। इसीलिए ज्ञान को प्रमेय (प्र+मेय = प्रकृष्ट मान, गणित) कहते हैं। उस ज्ञेय के प्रतिपादन तथा ज्ञान के परम साधकतर माध्यम/कारण संख्या/मान/गणित है। जैन धर्म के चारों अनुयोगों में से करणानुयोग/गणितानुयोग श्रेष्ठतम अनुयोग है। इस अनुयोग के द्वारा निर्णीत/प्रतिपादित विषय अन्य अनुयोगों के लिए अवश्य मान्य है। भ. महावीर ने ब्रह्माण्ड में विद्यमान जीवों की संख्या अनंतानंत, पुद्गल (परमाणु से लेकर स्कंध) की संख्या जीवों से भी अनंतगुणित रूप से अनंतानंत कहा है। अनंतानंत आकाश के बीचोबीच असंख्यात प्रदेशवाला लोकाकाश (343 घन राजु) कहा। लोकाकाश में पूर्णतः सर्वत्र व्याप्त गति माध्यम के सहकारी कारणरूप धर्म द्रव्य तथा स्थिति माध्यम रूप अधर्म द्रव्य के प्रदेशों को असंख्यात-असंख्यात कहा एवं काल द्रव्य को असंख्यात कहा । प्रत्येक जीव के आत्म प्रदेश भी असंख्यात है ऐसा प्ररुपण किया है। प्रत्येक जीव में कर्म परमाणुओं की संख्या अनन्त कहा है। समय, सेकण्ड, दिन, वर्ष आदि व्यवहार काल को अनन्तरूप में निरुपित किया। इतना ही नहीं जीवों के अमूर्तिक गुणों की भी संख्या बताई है। यथा - मति ज्ञान, श्रुतज्ञान की इयत्ता तथा विषय संख्यात है तो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान असंख्यात है तथा केवल ज्ञान सर्वोत्कृष्ट अनन्तानन्त है। केवल ज्ञान से बडा मान और कुछ भी ब्रह्माण्ड में नहीं है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड केवलज्ञान की तुलना में सुमेरु के समक्ष सरसों के बराबर है।

इसी प्रकार क्रोधादि अशुभ भावों एवं अहिंसादि शुभ भाव तथा आध्यात्मिक सुखादि शुद्ध भावों की भी संख्या का निरुपण किया। ऐसा क्रमबद्ध, सविस्तार, सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक वर्णन मुझे अन्यत्र नहीं मिला है ।

3) समतापूर्ण सर्वोदयी धर्म

भ. महावीर ने केवल मनुष्यों के भौतिक विकास के लिए ही नहीं बताया परन्तु सम्पूर्ण जीवों के सम्पूर्ण, सर्वाङ्गीण, सार्वभौम, शाश्वतिक विकास के लिए भी समग्र उपाय बताया। उन्होंने सङ्कीर्ण मानवतावादी, मानवाधिकार रूप धर्म से भी अत्यन्त श्रेष्ठ सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोदिया जीव से लेकर मनुष्य, देव, नारकी , पशु-पक्षी तक के पूर्ण विकास के लिए सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी **''जीवधर्म ''** का उपदेश दिया। **''सव्वे सुद्धा हु सुद्ध णया''** अर्थात् शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से प्रत्येक जीव शुद्ध है, बुद्ध है, ईश्वर है, भगवान् कहकर परम साम्यवाद की घोषणा की। इस दृष्टि से उन्होंने जीव और जिनेन्द्र, मानव और भगवान्, खुद और खुदा, बुद्दु और बुद्ध को समान स्थान प्रदान करके जीव की आध्यात्मिक शक्ति का परिज्ञान कराया। उन्होंने **''परम क्रमविकास सिद्धान्त''** की स्थापना के माध्यम से यह प्रतिपादन किया कि जीव क्रम से विकास करता हुआ निगोदिया, वायरस जीव से क्रम विकास करते करते केवल जलचर, उभयचर, स्थलचर, वानर, वनचर से लेकर आधुनिक नर ही नहीं परन्तु आध्यात्मिक नर से लेकर भगवान्, ईश्वर तक बन सकता है। यह सिद्धान्त उनका प्रायोगिक सिद्धान्त भी था। क्योंकि स्वयं उन्होंने निगोदिया जीव से विकास करते हुए वर्धमान, सन्मति, वीर, अतिवीर, महावीर, केवली, शुद्ध, बुद्ध, परब्रह्म, परमात्मा बने।

देवाधिदेव ! परमेश्वर ! वीतराग ! सर्वज्ञ ! तीर्थंकर ! सिद्ध ! महानुभव !
त्रैलोक्यनाथ ! जिनपुङ्गव ! वर्धमान !स्वामिन् ! शरणोऽस्मि शरणं चरणद्वयं ते ॥

हे देवाधिदेव ! हे परमेश्वर ! हे वीतराग ! हे सर्वज्ञ ! हे तीर्थंकर ! हे सिद्ध! हे महानुभव ! हे तीनों लोकों के नाथ ! हे जिनेन्द्र देव श्री वर्धमान स्वामिन् मैं आपके दोनों चरण कमलों की शरण को प्राप्त होता हूँ।

आत्म-शोधक, पर्यावरण विज्ञानी, विश्वशान्ति के प्रवक्ता : भ. महावीर

चलते चलते राह है बढते बढते ज्ञान।
तपते तपते सूर्य है महावीर महान्।।

जिनका आचरण ही दूसरों के लिए राह/मार्ग/संदेश बना; उस प्रायोगिक अनुभव से जिन्होंने आत्मज्ञान से विश्व–विज्ञान को प्राप्त किया ऐसे जीवात्मारूपी कमल को विकसित करने वाले ज्ञानसूर्य भ. महावीर महान् हैं। भगवान् की मति सन्मति होने के कारण वे सर्वोदयी–वर्धमान होते हुए वीर–अतिवीर–महावीर हुए। भ. महावीर सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, शुचिता, क्षमा, मृदुता, ऋजुता, संयम, तप, त्याग, विज्ञान, शांति, समता, दान, दया, सच्चिदानंद, सत्यं–शिवं–सुन्दरं, विज्ञानघन स्वरूप सिद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, शांत, दांत, ध्यानी, सर्वोदयी, आध्यात्मिक, विज्ञानी, वीतरागी, साम्यभावी आदि अनन्त गुणों से युक्त होते हुए भी इस शोध–प्रबंध में हम उनके 1) आत्मशोधक 2) पर्यावरण विज्ञानी 3) विश्व शांति के प्रवक्ता गुण के बारे में चिंतन करेंगे। क्योंकि वर्तमान के I) तनावपूर्ण युग के लिए उनके आत्मशोधक II पर्यावरण प्रदूषण के लिए उनके पर्यावरण–विज्ञान III अशांत विश्व के लिए उनके विश्वशांति के उपाय अत्यंत उपयोगी/मार्गदर्शक/समाधान कारक हैं। भ. महावीर के विभिन्न सिद्धांतों को आधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए मेरी (आ. कनकनंदी) 1) विश्व विज्ञान रहस्य 2) विश्व द्रव्य विज्ञान 3) स्वतंत्रता के सूत्र 4) अहिंसा का विश्वरूप 5) सत्यसाम्यसुखामृतम् 6) ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक एवं रसायन विज्ञान 7) अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा आदि 150 पुस्तकों का अध्ययन करें

1) आत्म शोधक भ. महावीर

भ. महावीर का सर्व श्रेष्ठ, सर्व ज्येष्ठ, प्रप्रथम (सर्वप्रथम) गुण है स्व–आत्मशोधन। उन्होंने दूसरों को आदर्श का पाठ पढाने के पहले स्वयं आदर्श का पाठ पढा आत्मशोधन के द्वारा। इससे वे आत्मा के शोध के साथ साथ विश्व तत्व के शोधक/ज्ञाता तथा प्रवक्ता बने। उन्होंने कथनी के पहले करनी करके स्व–कथनी को प्रामाणिक सत्यापित किया। इससे

उनके मन–वचन–काय–कार्य उद्देश्य/लक्ष्य, निर्देश/प्रवचन आदि प्रायोगिक, अनुभव गम्य–अनुभव जन्य, अन्तःकरण से निसृत सत्य–तथ्यात्मक होने से नित्य नूतन, नित्य पुरातन स्व–पर कल्याणकारी और सर्व प्रकार विसंवाद से रहित है। साधारण व्यक्तियों से विपरीत भ. महावीर की प्रवृत्ति सदा–सर्वदा–सर्वथा हर अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थितियों में आत्मशोधन रही। इसलिए वे असाधारण–अनुत्तर, सन्मति, वर्धमान, वीर, अतिवीर, महावीर, तीर्थंकर, आप्त, शास्ता, आत्मानुशासी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंत सुखी, अनंत वीर्यवान, पूजनीय, दर्शनीय, विश्वगुरु, विश्वबंधु बने । उन्होंने आत्म शोधन के लिए "स्व दोष शान्त्या विहतात्म शान्तिः" अर्थात् स्व दोष शांति से आत्म शांति की उपलब्धि होती है ऐसा महान् सूत्र दिया।

2) परम पर्यावरण विज्ञानी

स्व–आत्म शोधन से वे परम संयमी, अहिंसक, दयालु, परोपकारी, सर्वज्ञ, "सर्व जीव हितकारी" होने से उनसे किसी भी प्रकार के 1) भाव प्रदूषण 2) शब्द प्रदूषण 3) वायु प्रदूषण 4) जल प्रदूषण 5) मृदा प्रदूषण संभाव्य ही नहीं होता है। क्योंकि समस्त भौतिक प्रदूषण के मूल कारण भाव प्रदूषण है और भाव प्रदूषण को उन्होंने आत्मा शोधन के द्वारा समूल विनाश कर दिया। भाव प्रदूषण रूपी हिंसा, चोरी, परिग्रह, तृष्णा, असंयम आदि से जीव हत्या, प्रकृति से लेकर पशु–पक्षी मनुष्य तक के दोहन से लेकर शोषण, भौतिक वस्तुओं के अति उत्पादन, क्रय–विक्रय, आदान–प्रदान, उपभोग आदि से शब्द प्रदूषणादि समस्त प्रदूषण उत्पन्न होते हैं। इन सब रहस्यों के ज्ञाता राजकुमार वर्धमान ने राजवैभव से लेकर शरीर के वस्त्र और शरीर के भोग–विलासिता तक को त्याग दिया। उन्होंने 1) पृथ्वीकायिक 2) जलकायिक 3) वायुकायिक 4) अग्निकायिक 5) वनस्पतिकायिक रूप एकेन्द्रिय स्थावर जीव से लेकर 6) द्वीन्द्रिय 7) त्रीन्द्रिय 8) चतुरेन्द्रिय 9) पंचेन्द्रिय जलचर, स्थलचर, नभचर, उभयचर और मनुष्य तक के जीवों को किसी भी प्रकार से आधीन करना, उपयोग करना, उपभोग करना, दोहन शोषण करना, कष्ट देना, हिंसा करना आदि नहीं किया। इसके लिए उन्होंने 1) अहिंसा 2) सत्य 3) आचौर्य 4) ब्रह्मचर्य 5) अपरिग्रह रूपी

महान् सिद्धांतों में जिया और दूसरों को भी जीने के लिए उपदेश दिया। उन्होंने पर्यावरण सुरक्षा, पारिस्थितिकी के लिए एक महानतम सिद्धांत दिया " जो एक्क हिलज्जई सो सव्व हिलज्जई" अर्थात् जो एक को क्षति पहुँचाता है वह सब को क्षति पहुँचाता है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य / तत्व, जीव एक दूसरों से आश्रित है, उपकृत है। उन्होंने "परस्परोपग्रहोजीवानाम्" अर्थात् परस्परो का उपकार करना जीवों का धर्म हैं ऐसा भी एक महान् पर्यावरण सुरक्षा का सूत्र दिया। सत्ता, संपत्ति, कानून, शक्ति के बलपर या स्वार्थ के लिए भी किसी भी प्रकार के निर्दोषी जीवों को कष्ट देना या हत्या करना उन्होंने पूर्णतः निषेध, अवैध, अपराध, हिंसा करार दिया।

३) विश्वशांति के प्रवक्ता

उन्होंने विश्वशांति के लिए 1) अनेकात्म रूपी भावात्मक अहिंसा 2) स्याद्वाद रूपी वाचनिक अहिंसा 3) अपरिग्रह रूपी सामाजिक अहिंसा 4) पर अपकार से रहित परोपकार से युक्त व्यावहारिक अहिंसा स्वरूप चार प्रकार के अहिंसा के अमोघ सूत्र दिये। भाव को उदार, उदात्त, व्यापक, उन्नत, सरल, पवित्र, विनम्र, कोमल बनाकर सत्यग्राही बनाना अनेकात्मक भावात्मक अहिंसा है। इस भाव अहिंसा से युक्त परोपकार से सहित वचन बोलना, लिखना, संकेत करना, षडयंत्रणा नहीं करना आदि वाचनिक अहिंसा है। तृष्णा, संग्रह आदि भाव से युक्त होकर अनैतिक रूप से सचित्त (जीव जंतु, पशु–पक्षी, मनुष्य–स्त्री) अचित्त (धन, संपत्ति, भूमि आदि) को अपने आधीन करना, उनका भोगोपभोग करना सामाजिक/सामूहिक हिंसा है। क्योंकि इससे पर्यावरण से लेकर अन्य लोगों का शोषण के साथ साथ हनन भी होता है। अन्य जीव जन्तु, मनुष्यादि जीवनोपयोगी साधनों से भी वंचित होकर संत्रस्त होते हैं। इसके कारण पर्यावरणीय संतुलन से लेकर सामाजिक संतुलन बिगड जाता है जिसके फलस्वरूप अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प आदि प्राकृतिक आपदायें तथा धनी–गरीब, शोषक–शोषित, मालिक–मजदूर, चोरी, डकैत, भ्रष्टाचार, आतंकवाद, हिंसा, युद्ध आदि सामाजिक, राष्ट्रीय, वैश्विक आपदायें जन्म लेती हैं। इन सब के निराकरण के लिए भ. महावीर ने अपरिग्रह रूपी सामाजिक अहिंसा का सूत्र दिया। इसके लिए उन्होंने कहा "सादा जीवन

उच्च विचार" वाला जीवन जीने के लिए जो न्यूनतम प्राकृतिक साधन चाहिए उसे प्रकृति का बिना कष्ट/शोषण करके परिश्रम से प्राप्त करें। इससे अन्यथा करण परिग्रह है, चोरी है, हिंसा है, भ्रष्टाचार है। व्यावहारिक अहिंसा के लिए भ. महावीर ने सिद्धांत दिया "जं इच्छत्तं अप्पणतं तं इच्छस्स परस्सावि", अर्थात् जो व्यवाहार तुम स्वयं के लिए चाहते हो वह व्यवहार तुम दूसरों के लिए भी करो। प्रत्येक जीव सुख, समृद्धि, सुरक्षा, सम्मानादि चाहता है। वह इसके योग्य व्यवहार भी दूसरों से चाहता है। इसलिए उसे भी ऐसा ही व्यवहार दूसरों के लिए करना चाहिए। क्योंकि विश्व का सार्वभौम नियम है जो हम देते हैं वही हम पाते हैं। अतः भ. महावीर ने कहा वैश्विक सुख, शांति, समृद्धि, सुरक्षा, सम्मानादि के लिए विश्व के प्रत्येक प्राणी एक दुसरों को सुख, शांति आदि प्रदान करें। उन्हों ने कहा

जेण तच्चं विबुज्झदि जेण अत्ता विसुज्झदि।
जेण मित्ति पभज्झदि तं जाणं जिण सासणं।।

जिस से तत्त्वो का विज्ञान होता है जिस से आत्मा परिशुद्ध होता है, जिससे मित्रता का प्रवाह होता है वह जिन शासन है, विजेता का शासन है, आत्मानुशासन है, वैश्विक शासन/नियम/कानून/ सिद्धान्त है।

सार्वभौम क्रांति के अग्रदूत भगवान् आदिनाथ (ऋषभदेव)

भ. आदिनाथ का व्यक्तित्त्व, ज्ञान, आचार, विचार आकाश की तरह विशाल, सर्वव्यापक, सार्वभौम, सार्वत्रिक, कालातीत है। भ. आदिनाथ का जन्म चैत्रकृष्णा नवमी के दिन, उत्तराषाढा नक्षत्र के ब्रह्मयोग में अतिंम 14 वे कुलकर महाराजा नाभिराय की महारानी मरुदेवी के गर्भ से हुआ था। तब कालपरिवर्तनानुसार भोग भूमि का अवसान एवं कर्मभूमि के उदयकाल (संक्रमणकाल) था। कर्मभूमि के आगमन से 10 प्रकार के कल्पवृक्षों का निर्गमन होने लगा जब कल्पवृक्षों का निर्गमन होने लगा तब दुःखी, पीडित प्रजा नाभिराय के पास पहुँची और अपना दुःख, पीडा बताई। नाभिराय ने उनको आदिनाथ के पास भेजा। तब आदिनाथ ने दुःखी जनता को सुखी करने हेतु असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प इन षट्कर्मों का ज्ञान दिया। इसलिए प्रजा उन्हें विधाता, विश्वकर्मा, आदिसृष्टा, आदिब्रह्मा, प्रजापति, स्वयंभू आदि नामों से पुकारती थी।

मानवीय गुणों के विकास की सभी सीमायें भ. आदिनाथ ने उद्घाटित की थी। स्व–पर – राष्ट्र, विश्व, सभ्यता, संस्कृति, धर्म आदि की रक्षा, सुरक्षा के लिए भ. आदिनाथ ने असि की शिक्षा दी थी। शिक्षा के क्षेत्र में भ. आदिनाथ का विशेष योगदान माना जाता है। स्त्री शिक्षा के प्रथम गुरु भ. आदिनाथ हैं। उन्होंने अपनी दोनों पुत्रियों ब्राह्मी और सुंदरी में से ब्राह्मी को लिपि विद्या (वर्णमाला) का ज्ञान दिया एवं सुन्दरी को अंकविद्या (संख्या) का ज्ञान दिया। ब्राह्मी लिपि आज भी प्राचीनतम प्रसिद्ध लिपि है। इस प्रकार इस युग में लिपि एवं अंकविद्या का अविष्कार भ. आदिनाथ द्वारा हुआ। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, ऋषभसेन को गंधर्वशास्त्र व अन्य पुत्रों को चित्रकला, संगीतकला एवं 72 कलायें तथा 64 विज्ञानों की शिक्षा देकर जनमानस में शिक्षा का प्रचार–प्रसार किया। भ. आदिनाथ ने साहित्य के तीनों अंगों यथा– व्याकरणशास्त्र, छंदशास्त्र, अलंकारशास्त्र के ग्रंथों की रचाना की और उन्हें अपने पुत्रों एवं पुत्रियों को पढाया। उनकी पुत्रियों ने पिता से प्राप्त शिक्षा का सर्वोत्कृष्ट आदर्श विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया कि उन्होंने अपने पिता का मस्तक अन्य किसी के सामने नत नहीं होने दिया एवं बालब्रह्मचारिणी रहकर स्व–पर का कल्याण किया।

आज की अधिकांश पढी लिखी नारियाँ अश्लीलता, फैशन, दिखावा,

अनुशासनहीनता, कर्तव्यहीनता, कामचोर, अंगप्रदर्शन इत्यादि कुप्रवृत्तियों को बढावा दे रही हैं। ऐसी पढीलिखी नारी स्व–पर, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व के लिए कलंक है। ऐसी साक्षरी नारियाँ ब्राह्मी, सुंदरी, सीता, सावित्री नहीं अपितु नट नटियों का अंधानुकरण करके स्वयं को बोल्ड, अपटुडेट मानती हैं।

महान् भारतीय संस्कृति का स्वाभिमान भूलकर हम विकृतियों को ग्रहण करते जा रहे हैं। हमें अपना इतिहास भूगोल, राजनीति, शिक्षा, आध्यात्म का कुछ भी ज्ञान नहीं है। आज भी बच्चों को पढाया जाता है कि आर्य विदेशों से आये जबकि आर्यों का मूल स्थान भारत ही है। भोग भूमि के समय पत्नी अपने पति को आर्य कह कर सम्बोधित करती थी। आर्य सुशिक्षित, सभ्य, संस्कारित होते थे। दुष्यन्त शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा ऐसा इतिहासकार बताते हैं। जबकि उसके पूर्व करोड़ों वर्षों पहले ऋषभ पुत्र भरत के नाम पर आर्यावर्त का नाम भारत पड़ा। इस कथन की पुष्टि आदिपुराण, तिलोयपण्णत्ति, वायुपुराण , मारकण्डेयपुराण, गरूडपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, विष्णुपुराण, भागवतपुराण इत्यादि ग्रन्थों द्वारा होती है। प्रथम कामदेव बाहुबली इस कर्मभूमि युग के प्रथम लोकतंत्र नायक थे। इसी प्रकार आज भी हमें इतिहास की विभिन्न कमियों एवं अच्छाईयों का ज्ञान–भान नहीं है।

भ. आदिनाथ ने कर्मभूमि की रचना करके जनकल्याण तो किया लेकिन स्वकल्याण (अध्यात्म कल्याण) शेष था। इसलिये स्वर्ग के सौधर्म इन्द्र को चिन्ता होती है और वह आदिनाथ को संसार भोगों से विरक्त करने हेतु नीलांजना नामक अल्पायुवाली देवी को नृत्य हेतु भेजता है। नीलांजना नृत्य करते–करते विलय हो जाती है। इस विलय से भगवान आदिनाथ संसार शरीर भोगों से विरक्त हो जाते हैं और वे दिगम्बर दीक्षा को ग्रहण करके पुरिमताल नामक नगर में अक्षयवट के नीचे तपस्या करते हैं। पुरिमताल का नाम आगे चलकर प्रयाग हुआ। प्रयाग का अर्थ होता है प्र+याग जहां प्रकृष्ट रूप से याग (तपस्या) किया जाता है। आगे वही प्रयाग इलाहाबाद के नाम से जाना जाता है। आज भी प्रयाग में विशाल अक्षय वट वृक्ष है।

भ. आदिनाथ ने छः महीने के अनशन के बाद आहार चर्या के लिये प्रस्थान किया लेकिन पूर्व में बन्धे हुए अन्तराय कर्म के कारण उनको छः माह तक आहार नहीं मिला। विहार करते–करते हस्तिनापुर आये वहां के राजा श्रेयांस को पूर्व भव के जाति स्मरण ज्ञान से आहार विधि का ज्ञान होने पर

भगवान् आदिनाथ को अक्षय तृतीया के दिन इक्षु रस का आहार दान दिया तभी से आज तक वह तिथि अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्ध है। भ. आदिनाथ का वंश भी इक्ष्वांकुवंश के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि भ. आदिनाथ ने प्रजा को गन्ने के प्रयोग की विधि का ज्ञान कराया था। अक्षयतृतीया कर्मों के क्षय करने की तिथि है लेकिन आज हमनें उसका विकृत रूप ग्रहण कर लिया है। अक्षय तृतीया के दिन हम शादी विवाह करके अपने संसार को अक्षय करते हैं। संस्कार जन्म जन्मान्तरों तक नहीं छूटते। 10 भव पहले वज्रजंघ व श्रीमती ने दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों को आहार दिया था वहीं आहारदान के संस्कार आगे उभरकर आये और दान परम्परा का शुभारंभ हुआ।

भ. आदिनाथ ने पहले गृहस्थ जीवन में प्रजा के भौतिक जीवन और आहार–विहार को बदला बाद में दिव्यज्ञान प्राप्त होने पर आत्मदर्शी और केवलज्ञानी बनकर जनमानस के आचार–विचार को बदला। अनेकांत , स्याद्वाद, कर्मसिद्धांत आदि सिद्धांतों को सूक्ष्मातिसूक्ष्म मीमांसा करते हुए बताया कि चैतन्य जीव के साथ अचेतन कर्मांश किस प्रकार आते हैं एवं बंध को प्राप्त होते हैं। इन कर्मों को निर्जरित करने के लिए सतत् सचेतन रहने की प्रेरणा दी। अनेकांत स्याद्वाद की जितनी दर्शन व चिंतन के क्षेत्र में आवश्यकता है उससे कहीं अधिक व्यावहारिक, दैनिक जीवन में आवश्यकता है। आदिनाथ द्वारा प्ररूपित अनेकांत की यहीं निष्पत्ति है कि हम अपने आपको इतना तैयार करें कि दूसरों को सुन सके। कहने की क्षमता से बहुत बड़ी है दूसरों को सुन पाने की क्षमता। इससे व्यक्ति उन सत्यांशों को भी जान लेता है जहां उनकी दृष्टि नहीं पहुंची थी। भगवान आदिनाथ का यह समन्वयात्मक चिंतन सभी कालों एवं परिस्थितियों में अनुकरणीय है। यदि तत्व की विचारणा एवं सत्य की गवेषणा में सर्वत्र अनेकान्त स्याद्वाद की दृष्टि अपनायी जाये तो धार्मिक संघर्ष, दार्शनिक विवाद, पंथ परम्परा, सम्प्रदाय का आपसी कलह संघर्ष स्वयमेव तिरोहित हो जाय। इस महान् संस्कृति से समत्व दर्शन सुदृढ होता है तथा मानवीय दृष्टिकोण उदार, विशाल, सत्योन्मुखी, सार्वभौम, सर्वव्यापक बनता है।

भ. आदिनाथ ने आध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, साहित्यिक, भौगोलिक, वैज्ञानिक आदि समस्त विषयों का व्यापक सूक्ष्माति–सूक्ष्म गवेषणा अनुसंधान करके जगत् के प्राणियों का महान् उपकार किया। भगवान आदिनाथ के द्वारा प्ररूपित उपदेशों

के आधार पर ही आज का विश्व ज्ञान–विज्ञान, शिक्षा, शिल्पकला, आजीविका इत्यादि क्षेत्रों में विकास कर रहा है।

ऋषभदेव भगवान जब रत्नत्रय रूपी त्रिशूल से घाती कर्म रूपी कर्मों का नाश किये तब वे अर्द्धनारीश्वर बने। (अर्द्ध+न+अरि+ईश्वर) उनका शरीर परम् औदारिक बनने के कारण समोशरण में जब विराजमान होकर मनुष्य, पशु, पक्षी, देव के लिये उपदेश देते थे तब चारों तरफ मुखदर्शन होता था जिससे उन्हें चतुरानन कहा गया। और समस्त प्राणियों के गुरू होने के कारण भूतनाथ कहा गया। इस दिव्य ध्वनि रूप गंगा का अवतरण उनके तपःश्रुत ज्ञान से हुई थी। अंतरंग वैभव से अथवा विभूतियों से युक्त होने के कारण वे विभूतिपति थे या विभूतिधारी थे। दीक्षा लेने के बाद योग साधना तथा आहारचर्या में प्रायः उनके एक वर्ष व्यतीत होने के कारण उनके केश बढ़ गये थे इसलिये उन्हें केशी कहते हैं। प्राचीन आदिनाथ की मूर्तियाँ जटाजूट सहित मिलती हैं। माना जाता है कि (वैदिक मत में) शिव शमशानवासी, चन्द्रशेखर और सर्पधारी हैं। इसका आध्यात्मिक रहस्य यह है कि सर्प के समान अनियत वासी वीतराग रूप से शमशानवासी और मस्तिष्क को शांत–शीतल रखा जाय। रूद्र का वाहन बैल मानते हैं जो कि भगवान आदिनाथ का चिन्ह स्वरूप है। दक्षिणात्य पंचांग के अनुसार भगवान आदिनाथ को मोक्ष (शिव) कैलाश पर्वत से फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को प्राप्त हुआ था। इसलिये शिवरात्रि रूप में प्रचलन हुआ। कैलाश पर्वत शिव का निवास स्थान माना जाता है। इन पूर्वोक्त अनुसंधानात्मक विवेचन से सिद्ध होता है कि वस्तुतः ऋषभदेव ही आदिब्रह्मा, प्रजापत, प्रजापालक, विष्णु, शिव हैं।

भ. आदिनाथ के व्यक्तित्व, कृतित्व से सार संक्षेप यही उद्घाटित होता है कि उन्होंने व्यक्ति स्वातंत्र्य को सामाजिक धरातल पर प्रतिष्ठित करके सांस्कृतिक विरासत को पूर्ण विकसित, समुन्नत, समृद्ध बनाया। भगवान आदिनाथ की यशोगाथा भारतीय मनीषा युगो–युगों तक मुक्तकंठ से गौरव स्वाभिमान के साथ याद करते हुए गायेगी।

संकीर्ण-स्वार्थ-अहिंसा - तथा उदार-निस्वार्थ-अहिंसा

(मत्स्य पालन, मुर्गापालनादि जो मांसादि के लिए होता है वह क्रूरता है। गो--वत्स्य सम जो निस्वार्थ निर्मलप्रेम है वह धर्मानुकम्पा है। गो पालन भी जो बाद में हत्या के उद्देश्य से किया जाता है वह भी क्रूरता है।)

स्वभाव का सर्वदा, सर्वथा अभाव नहीं होता, परन्तु स्वभाव का परिणमन सतत् होता रहता है। स्वभाव/द्रव्य/परिणाम यदि शुद्ध है तो उस का परिणमन शुद्ध होगा यदि अशुद्ध है तो परिणमन अशुद्ध होगा यदि मिश्र तो परिणमन मिश्र होगा। उदाहरणतः यदि सोना शुद्ध है तो उससे जो अलंकार आदि बनेगें वे शुद्ध होंगे यदि अशुद्ध है तो अशुद्ध तथा मिश्र है तो मिश्र बनेगें। इसी प्रकार आत्मा का शुद्ध स्वरूप अनन्त चेतना (ज्ञान, दर्शन) सुख–शांति, वीर्य (शक्ति) अहिंसा /समता आदि गुणों से युक्त है। परंतु कर्म के मिश्रण/बन्ध के कारण उपर्युक्त गुणों में ह्रासता, सुप्तता, निष्क्रियता, विकृति, अशुद्धता आजाती है। जिस जीव का उद्देश्य, लक्ष्य, भाव अशुद्ध, संकीर्ण, स्वार्थ–निष्ठ होता है उसकी अनुकम्पा, अहिंसा, सेवा, क्रियादि तदनुकूल ही होगी भले बाह्य में दिखने में कुछ भी हो। जैसा कि मांस के लिए जो मुर्गा पालन, मत्स्य पालन, पशु पालन करते हैं तथा भले उन प्राणियों के लिए रहने की, भोजन की, स्वास्थ्य की, शारीरिक विकास की व्यवस्था करते हैं तथापि यह सब धर्मानुकम्पा, दया, करुणा, परोपकार से युक्त नहीं। इसी प्रकार मद्य, बीडी, सिगरेट, तम्बाखू, गुटखा, अफीम, आतंकवाद, दादागीरी, ठगगीरी, शोषण, भ्रष्टाचार आदि को प्रश्रय देना, उन्हें सहयोग करना, उनकी व्यवस्था करना आदि भी धर्म नहीं है, दया, करुणा नहीं है, भले यह कार्य धर्म के नाम पर, राष्ट्र के नाम पर, संगठन के नाम पर भी क्यों नहीं हो। इसके विपरीत अच्छे उद्देश्य, अच्छी भावना से कुमार्ग में चलने वालों को सही मार्ग में लेने के लिए यदि प्रताडित किया जाता है, दंडित किया जाता है, उनका असहयोग किया जाता है तो भी यह सब धर्म हैं, धर्मानुकम्पा हैं। भले बाहर में देखने में कुछ भी लगता हो। जो साधु–संत, समाज सुधारक, नेता, वैज्ञानिक या लेखक आदि ब्रह्मचर्य में रहते हैं, गृहविरत रहते हैं, गृह

त्याग करते हैं, भले इससे दूसरों को तात्कालिक, स्वार्थ–निष्ठ, संकीर्ण कारणों से कष्टकर अनुभव क्यों नहीं होता हो तथापि यह कार्य अयोग्य नहीं है। किंतु कोई एक व्यक्ति समाज/राष्ट्र की सेवा के बहाने कुछ बाह्यतः देखने में अच्छे कार्य करते हो परंतु यदि स्वार्थ–सिद्धि के लिए, सत्ता–संपत्ति के लिए यह कार्य करते हैं तो यथार्थ से यह योग्य कार्य नहीं है। इसी प्रकार संकीर्ण, धार्मिक पंथ–मत, परंपरा के अनुयायी बनकर केवल उसकी रीति–रिवाज, परंपरा, पूजा–पाठ, उपासना, पर्व, त्यौंहार, शिक्षण–प्रशिक्षण, प्रचार–प्रसार, शिक्षा–दीक्षा करने मात्र से धर्मानुकम्पा नहीं हो जाती हैं जिसके भाव, उद्देश्य में सत्यनिष्ठा, उदारता, सरल–सहजता, पवित्रता, नम्रता, कर्तव्यनिष्ठा, कोमलता, दया, करुणा आदि नहीं हैं। अनुकम्पा, दया/अहिंसा के स्वरूप एवं विभिन्न रूपों का दिग्दर्शन निम्न प्रकार है। –

अणुकंपासुद्धुवओगो वि य पुण्णस्स आसवदुवारं।
तं विवरीदं आसवदारं पावस्स कमस्स।। 828 भ. आ.

अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्य कर्म के आस्रव के द्वार हैं। और अनुकम्पा तथा शुद्ध उपयोग से विपरीत परिणाम पाप कर्म के आस्रव के द्वार हैं।

A. अनुकम्पा :– अनुकम्पा के तीन भेद हैं – 1. धर्मानुकम्पा 2. मिश्रानुकम्पा 3. सर्वानुकम्पा।

1. धर्मानुकम्पा :– जिन्होंने असंयम का त्याग कर दिया है, मान, अपमान, सुख–दुःख, लाभ–अलाभ तथा तृण–सुवर्ण आदि में जिनका समभाव है, इंद्रिय और मन का जिन्होंने दमन किया है, जो माता के समान मुक्ति के आश्रित हैं, जिन्होंने उग्र कषाय विषयों का परित्याग किया है, दिव्य भोगों में दोषों का विचार करके विरागता को अपनाया है, संसार रूपी महासमुद्र के भय से रात्रि में भी जो अल्पनिद्रा लेते हैं, जिन्होंने निःसंगता को स्वीकार किया है और जो उत्तम क्षमा आदि दस प्रकार के धर्मों में लीन हैं उनमें जो अनुकम्पा है उसे धर्मानुकम्पा कहते हैं। उस धर्मानुकम्पा से प्रेरित होकर विवेकीजन उन मुनियों के योग्य अन्न–पान, वसतिका आदि संयम के साधन प्रदान करते हैं। अपनी शक्ति को न

छिपाकर उपसर्ग और दोषों को दूर करते हैं। "हमें आज्ञा कीजिए" इस प्रकार निवेदन करके सेवा करते हैं। जो मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं उन्हें सन्मार्ग दिखलाते हैं। उन मुनियों का संयोग प्राप्त होने पर "अहो हम बडे पुण्यशाली हैं" इस प्रकार विचार कर प्रसन्न होते हैं। सभाओं में उनके गुणों का बखान करते हैं। उनको गुरु के समान मानते हैं। उनके गुणों का सदा स्मरण करते हैं कि कब उनका समागम हो। उनके संयोग की अभिलाषा रखते हैं। दूसरों के द्वारा उनके गुणों की प्रशंसा सुनकर संतुष्ट होते हैं। इस प्रकार अनुकम्पा में तत्पर साधु गुणों की अनुमोदना करने वाला होता हैं। पूर्व ज्ञानियों ने बंध को तीन प्रकार से कहा है। स्वयं करने से, दूसरों से कराने से और दूसरों के करने पर उनकी अनुमोदना करने से। अतः महागुणशाली मुनियों को देखकर हर्ष प्रगट करने से महान् पुण्यास्रव होता है।

2. मिश्रानुकम्पा–जो महान् पाप कर्म के मूल हिंसा आदि से निवृत्त हैं, संतोष और वैराग्य में तत्पर हैं, विनीत हैं, दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदंडविरति को धारण किये हुए हैं, तीव्र दोषवाले भोग–उपभोगों का त्याग करके शेष भोगों का जिन्होंने परिमाण कर लिया है, जिनका चित्त पाप से भीत रहता है, जो विशिष्ट देश और काल में सर्व सावद्य का त्याग करते हैं अर्थात् त्रिकाल सामायिक करते हैं, पर्व के दिनों में समस्त आरंभ को त्याग उपवास करते हैं उन संयमासंयमियों में जो अनुकम्पा की जाती है वह मिश्रानुकम्पा है। मैं जिलाता हूँ ऐसा मान जो जीवों पर दया तो करते हैं किंतु पूर्ण रूप से दया को नहीं जानते ऐसे जो जिनागम से बाह्य अन्य धर्मों को मानने वाले विनयी तपस्वी हैं कष्टदायक तपस्या करते हैं उनमें अनुकम्पा भी मिश्रानुकम्पा हैं। उससे सब जीव पुण्य कर्म का संचय करते हैं। कहा भी है –

देश प्रवृतिर्गृहिणामकृत्स्नात् मिथ्यात्वदोषोपहतोन्य धर्मः।
इत्येषु मिश्रो भवतीति धर्मो मिश्रानुकम्पामवगच्छेज्जन्तुः।।
सदृष्ट्यो वापि कुदृष्ट्यो वा स्वभावतो मार्दवसंप्रयुक्ताः ।
यां कुर्वते सर्वशरीरवर्गे सर्वानुकम्पेत्यभिधीयते सा ।।

गृहस्थ एक देश में प्रवृत्तिशील होने से पूर्ण संयम का पालक नहीं

होता। तथा मिथ्यात्व के दोष से सदोष अन्य धर्मवालों में अनुकम्पा मिश्रानुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जो स्वभाव से ही मार्दव भाव से युक्त हैं वे जो समस्त प्राणियों में अनुकम्पा करते हैं उसे सर्वानुकम्पा कहते हैं।

जिनके अवयव कट गये हैं, जो बांधे गये हैं, रोके गये हैं, पीटे गये हैं, खाये गये हैं ऐसे निरपराधी अथवा अपराधी मनुष्यों को देखकर तथा मृगों, पक्षियों, सरीसृपों और पशुओं को मांस के लिए दूसरे लोगों के द्वारा मारा जाता है अथवा उन्हें परस्पर में ही एक दूसरे की हिंसा करते और एक दूसरे का भक्षण करते देखकर, तथा कुंथु, चींटी आदि अनेक छोटे जंतुओं को मनुष्य, ऊँट, गधा, शरभ, हाथी, घोडे आदि के द्वारा कुचले जाते देखकर, तथा असाध्य रोग रूपी सर्प के द्वारा डसे जाने से पीडित "मैं मर गया", "मैं नष्ट हो गया" इत्यादि चिल्लाने वाले रोगियों को देख कर तथा जिनकी अवस्था अभी मरने की नहीं है, ऐसे गुरु, पुत्र, स्त्री, आदि का सहसा वियोग हो जाने से चिल्लाते हुए, अपने अंगों को शोक से पीटते हुए, कमाये हुए धन के नष्ट हो जाने से दीन हुए तथा धैर्य, शिल्प, विद्या और व्यवसाय से रहित गरीब प्राणियों को देख उनके दुःख को अपना ही दुःख मानकर उसको शांत करना अनुकम्पा है।

सुदुर्लभं मानुषजन्म लब्ध्वा मा क्लेशपात्राणि वृथैव भूता।
धर्मे शुभे भूतहिते यतध्वमित्येवमाद्यैरपि चोपदेशैः ।।

"अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर वृथा ही क्लेश के पात्र मत बनों। प्राणियों के लिए कल्याणकारी धर्म में मन लगाओं" इत्यादि उपदेशों के द्वारा किए गये अथवा भविष्य में किये जाने वाले उपकार की उपेक्षा के बिना अनुकम्पा करना चाहिए।

पुण्यास्रवं सा त्रिविधानुकम्पा सुतेषु पुत्रं जननी शुभेव।
श्वेतानुकम्पा प्रभवाद्विपुण्यान्नाके मृता अभ्युपपत्तिमीयुः।।

ये तीनों प्रकार की अनुकम्पा पुण्य कर्म का आस्रव करती है। वह जैसे माता पुत्र के लिए शुभ होती है उसी प्रकार शुभ है। उस अनुकम्पा से हुए पुण्य के विपाक से मरकर स्वर्ग में देव होते हैं।

B. शुद्ध प्रयोग –शुद्ध प्रयोग के दो भेद है – एक यति संबंधी

शुद्धसंप्रयोग और दूसरा गृहस्थ संबंधी शुद्धसंप्रयोग।

1. यति का शुद्धसंप्रयोग – मैं जीवों का घात नहीं करूँगा। झूठ नहीं बोलूँगा। चोरी नहीं करूँगा। भोगों को नहीं भोगूँगा। धन का सेवन नहीं करूँगा। शरीर में अत्यन्त कष्ट होने पर भी रात्रि में भोजन नहीं करूँगा। शुभ दीक्षा लेकर बहुदोष पूर्ण क्रोध, मान, माया, लोभ से आरंभ और परिग्रह से संबंध नहीं रखूँगा। जैसे कोई मनुष्य सिरपर मुकुट माला धारण करके और हाथ में धनुष बाण लेकर भिक्षा माँगे तो शोभा नहीं देता। उसी प्रकार यदि मैं दीक्षा लेकर लज्जा त्याग कर, दोषों को वहन करुँ तो शोभा नहीं देता। महान् ऋषियों का लिंग स्वीकार करके और स्नान आदि के बिना शरीर धारण करके व्रतों के भंग का विचार न करते हुए काम सेवन आदि का संसर्ग मैं कैसे कर सकता हूँ। मैं धैर्य खोकर दीन बनकर अनार्यों के द्वारा आचरण करने योग्य चर्या कैसे कर सकता हूँ। शरीर में विकार युक्त होकर घूमने पर साधू होकर सिर मुंडाना व्यर्थ है इत्यादि प्रकार से शुभ कर्म की चिंता करना सिद्ध, अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय, प्रतिमा, संघ और जिनशासन में भक्ति, वैराग्य गुणों में अनुराग, विनय युक्त प्रवृत्ति, संयम, अप्रमादिपना, परिणामों में कोमलता, क्षमा, आर्जव, संतोष, आहारादि संज्ञा, मिथ्यात्व आदि शल्य और ऋद्धि आदि के मद को जीतना , उपसर्ग और परिषह को जीतना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सराग संयम, दस प्रकार का धर्म ध्यान, जिन पूजा, जिन पूजा का उपदेश, निःशंकित आदि आठ गुण, प्रशस्तराग तपो भावना, पांच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि शुद्ध प्रयोग हैं।

2. गृहस्थों का शुद्ध प्रयोग – ग्रहण किये हुए व्रतों के धारण और पालन की इच्छा एक क्षण के लिए भी व्रत भंग को इष्ट न मानना, निरन्तर यतियों को दान देना, श्रद्धा आदि विधिपूर्वक अन्न आदि देना, भोगों को भोगकर भी थकान दूर करने के लिए अपनी भोगासक्ति की निन्दा करना, सदा घर छोडने की भावना करना, धर्म श्रवण करने को मिले तो मन का अति तुष्ट होना, भक्तिपूर्वक पंचपरमेष्ठी का स्तवन और प्रणाम करना, उनकी पूजा करना, दूसरों को धर्म में स्थिर करना, धर्म को बढाना, साधर्मिवात्सल्य, जिनेन्द्र देव के भक्तों का उपकार करना, जिन शास्त्रों का

अभ्यास करना, जिनशासन की प्रभावना करना आदि श्रावकों का शुद्ध प्रयोग है। अनुकम्पा और शुद्ध प्रयोग से विपरीत परिणाम अशुभ कर्म के आस्रव के द्वार हैं।

अशुद्ध भाव से पाप बंध होता है तथा पाप से इहलोक–परलोक में विभिन्न प्रकार के शारीरिक, मानसिक, भौतिक, सामाजिक, प्राकृतिक, आदि दुःख होते हैं। शुभ भाव से नवीन पाप बन्ध नहीं होता है, प्राचीन पाप की निर्जरा (ह्रास) होती है तथा पुण्य बन्ध के कारण इस जन्म में तथा पर जन्म में विभिन्न प्रकार के शारीरिक, मानसिक, भौतिक, सामाजिक, प्राकृतिक आदि सुख प्राप्त होते हैं। शुद्ध पवित्र भावना से समस्त प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं जिससे अक्षय, अनन्त आध्यात्म, आत्मोत्थ सुख–शांति, अहिंसा–समता, ज्ञान, वीर्य की उपलब्धि होती है।

"यो न हन्ति न घातेति, न जिनाति न जापते।
मित्तं सो सव्वभूतेसु वेरं तस्स न केनचीति।। (महात्मा बुद्ध)

जो न स्वयं किसी का घात करता है, न दूसरों से करवाता है, न स्वयं किसी को जीतता है, न दूसरों को जीताता है, वह सर्व प्राणियों का मित्र होता है, उसका किसी के साथ बैर नहीं होता।

"आत्मानः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।" (मनुस्मृति)

जो कार्य तुम्हें पसन्द नहीं है, उसे दूसरों के लिए कभी मत करो।

"सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोद, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीत वृतौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।
भावना द्वात्रिंशातिका

हे भगवान् ! मेरा प्रत्येक जीवों के प्रति मैत्री भाव रहे, गुणीजनों में प्रमोद भाव रहे, दुःखीजनों के लिए करुणा भाव रहे, दुर्जनों के प्रति मेरा माध्यस्थ भाव (साम्यभाव) रहे।

एकेन्द्रिय जीव से लेकर प्रायः पशु तक प्रचलित किसी भी धर्म के अनुयायी नहीं होने पर भी जैसे प्रायः प्रत्येक धर्मावलम्बी उन्हें विधर्मी मानकर घृणा, द्वेष, भेद – भाव, छूआ–छूत आदि नहीं करते हैं; उसी प्रकार जो मनुष्य अन्य धर्म को मानते हैं उनके साथ में घृणादि न करके मैत्री भाव रखना चाहिए । परंतु खेदात्मक आश्चर्य यह है कि विधर्मी पशु

आदि के प्रति जो घृणादि भाव नहीं करते वह घृणादि भाव विधर्मी मनुष्य (यहाँ तक कि स्व–धर्म के भिन्नपंथ को मानने वालों के प्रति भी), इतना ही नहीं अपने भाई–बंधु, गुरु–शिष्य के प्रति भी करते हैं। गुणीजन प्रति प्रमोद माने गुण प्रति ही प्रमोद है। परंतु अधिकांश व्यक्ति गुणी के प्रति भी घृणादि करते हैं। जहाँ क्लिष्ट, दुःखी, विपन्न, असहाय, असमर्थ मनुष्य या अन्य पशु–पक्षी आदि जीव के प्रति कृपा, सेवा, सहायता, सुरक्षादि करना चाहिए। परंतु सत्ता–संपत्ति –शक्ति से युक्त जीवों के प्रति तो सहानुभूति आदि भाव रखते हैं परंतु असहाय आदि जीवों से क्रूरतादि का व्यवहार करते हैं। यथा – दुष्ट भी धनी, राजा, नेता, आदि से अच्छा व्यवहार करेंगे परंतु गरीब आदि मनुष्य तथा पशु–पक्षी के प्रति क्रूरता का व्यवहार करेंगे। जिसके भाव, व्यवहार, धर्मादि विपरीत है उसके प्रति भी साम्यभाव रखकर समता का व्यवहार करना चाहिए। नहीं तो मत्स्य न्याय से एक दूसरों को कष्ट देने की शृंखला कभी भी समाप्त नहीं होगी। ऐसे भाव, व्यवहार से युक्त जीव ही धर्मानुकम्पादि गुणों से युक्त है, अन्यथा उसके अहिंसा, सेवा, परोपकारादि गुण यथार्थ नहीं हैं।

जर्मनी भक्त पैट्रिक से तत्व चर्चा करते हुए आ. श्री कनकनंदीजी गुरूदेव तथा संस्था के कार्यकर्ता

धर्म के अभाव से सुख नहीं; सुख भी है !

(सत्य, समतापूर्णधर्म के अभाव से संपूर्ण सुख का अभाव है तो सत्य, समता से रहित धर्म से संपूर्ण सुख तो अत्यंत दूर परंतु सांसारिक सुख भी दुष्प्राप्य है।)

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम् ।
संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ 2 र. श्र. ॥

महान्, दार्शनिक तत्ववेत्ता, तार्किक चूडामणि समन्तभद्र स्वामी प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं उस धर्म को कहूँगा जो धर्म संसारी जीवों के समस्त मानसिक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक दुःखों के कारणभूत कर्मों को नाश करके अनंत सुख में धारण करता है। इससे सिद्ध होता है कि धर्म के माध्यम से आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तथा इहलोक, परलोक आदि के भय से निवृत्ति होती है एवं जीव को शाश्वतिक, अतीन्द्रिय, आध्यात्मिक अनंत सुख प्राप्त होता है। कहा है-

''यस्मात्अभ्युदय निश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः।''

जिससे स्वर्गादि का अभ्युदय सुख एवं निर्माण रूपी परम सुख की सिद्धि होती है, उसको धर्म कहते हैं। कहा है-

धर्मः सर्व सुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते।
धर्मेणैव समाप्यते शिव सुखं धर्माय तस्मै नमः॥
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां धर्मस्य मूलं दया।
धर्मे चित्तमहं दधेप्रतिदिनं हे धर्मं ! मां पालय॥ प्रतिक्रमण

धर्म सर्व प्रकार के सुख को देने वाला है, हित करने वाला है, धर्म से ही निर्वाण अथवा मोक्ष सुख मिलता है। इसीलिए हे सुख इच्छुक भव्य जीवों! धर्म को ही संचित करिये। धर्म को छोडकर संसारी जीवों का कोई भी हित करने वाला नहीं है। धर्म का मूल दया अर्थात् करुणा या अहिंसा है। धर्म में मैं अपने चित्त को प्रतिदिन लीन करता हूँ। हे जगत् उद्धारक ! सुख शांति प्रदायक! धर्म मेरा पालन कीजिए।

पवित्र क्रियते येन येनैव ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्म कल्पाङ्घ्रिपाय वै॥

जिससे जीव पवित्र हो जाता है और जो विश्व को धारण करता है,

दया से आर्द्र धर्म रूपी कल्पवृक्ष के चरण को मैं नमस्कार करता हूँ, अर्थात् धर्म से ही पतित जीव पावन हो सकता है, दानव मानव बन सकता है, मानव महामानव, भगवान् बन सकता है। यह संपूर्ण चराचर विश्व धर्म से आधारित है।

धर्मो गुरुश्च मित्रं व च धर्म: स्वामी च बान्धव: ।
अनाथ वत्सल सोऽयं स त्राता कारणं विना ॥

धर्म ही गुरू है, मित्र है, स्वामी है, बंधु है, अनाथ का रक्षक है और बिना स्वार्थ के रक्षण करने वाला है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा सयंमो तवो ।
देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सयामणो ॥

धर्म ही लोक में उत्कृष्ट मंगल है, अहिंसा धर्म है, संयम धर्म है एवं तप धर्म है। जिसका मन सर्वदा धर्म में लीन रहता है, उसको स्वर्ग के देव भी नमस्कार करते हैं ।

वत्थु सहावो धम्मो, अहिंसा खमादि आद धम्मो ।
रयणत्तयं य धम्मो, अणेयंत सुभावणा धम्मो ॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य ये आत्म धर्म हैं। रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यग्चारित्र धर्म है। अनेकांत(स्याद्वाद) बारह भावना एवं मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भाव भी धर्म हैं।

इस संक्षिप्त गाथा सूत्र में जो धर्म की विभिन्न परिभाषायें दी गयी हैं, शब्दत: पृथक्-पृथक् होते हुए भी भाव से एक ही है। इसमें प्राय: विश्व में प्रचलित संपूर्ण संप्रदाय की धार्मिक परिभाषायें गर्भित हैं। वस्तु स्वभाव धर्म यह सामान्य परिभाषा है। चेतन-अचेतन द्रव्य में जो स्व-स्वभाव है, वही भाव उनका धर्म है, जैसे - पुद्गल का धर्म जडत्व एवं जीव का धर्म चेतनत्व है। इस परिभाषा में सम्पूर्ण परिभाषाएँ गर्भित है। परंतु उत्तरवर्ती परिभाषाएँ चैतन्य द्रव्य अर्थात् जीव द्रव्य का स्वभाव रूप धर्म की परिभाषाएँ हैं।

उपर्युक्त धर्म से समस्त शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, भौतिक, सामाजिक सुख से लेकर आत्मोत्थ अनंत अक्षय आध्यात्मिक सुख की उपलब्धि होती है। परंतु अमूर्तिक अनंत, असीम आकाश को जिस प्रकार

अधिकांशत: सामान्य व्यक्ति नीले रूप से गोलाकार ससीम देखता है, उसी प्रकार धर्म को भी अधिकांशत: सामान्य व्यक्ति संकीर्ण, मिथ्या, विकृत रूप से जानते हैं, मानते हैं, अपनाते हैं।

प्राकृतिक ताजा अंगुर गुणकारी है परंतु विकृत होकर शराब बनने पर नशाकारी है इसी प्रकार उपर्युक्त धर्म तो गुणकारी है परंतु विकृत धर्म अहितकारी है। यथा -

धर्म शब्द मात्रेण प्रायेण प्राणिन: अधमा ।
अधर्ममेव सेवन्ते विचार जड: चेतस: ॥

विचार में जड अधम प्राणी प्राय: धर्म शब्द से अधर्म का ही सेवन (विश्वास, आचरण) करते हैं। विश्व कवि रविन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा भी है-

मतामतेर तर्क मत आच्छिसि भूलि सरल सत्य ।
सकल घरे सकलनरे आच्छेन् भगवान् ॥

अर्थात् मतवाद, पंथवाद, तर्कवाद के कारण व्यक्ति इस सरल-सहज सत्य को भूल जाता है कि प्रत्येक घर में, प्रत्येक नर में, प्रत्येक जीव में भगवान् हैं।

प्राय: प्रत्येक धर्मावलम्बी अत्यन्त दुरस्थ या कल्पित या अवास्तविक भगवान् को संतुष्ट करने के लिए विभिन्न प्रकार के अनेक प्रयत्न करते हैं परंतु निकटस्थ विभिन्न जीव रूप में विद्यमान भगवान् से घृणा, द्वेष, अयोग्य व्यवहार या यहाँ तक की निर्मम हत्या या बलि चढा करके स्वयं को भगवन् के सच्चे भक्त, अनुयायी मानते हैं, घोषणा करते हैं। यदि भगवान् दयालु, परोपकारी, परमज्ञानी है तो क्या वे ऐसे व्यवहार करने वालों को अपना भक्त, अनुयायी मान सकते हैं? यदि मानते हैं तो वे दयालु, परोपकारी, परमज्ञानी नहीं हो सकते हैं। जो दयालु आदि गुणों से रहित है वे निर्दयी आदि दुर्गुणों से सहित होने से भगवान् कैसे हो सकते हैं ? यदि ऐसे को भगवान् माना जावे तो इससे तो अत्युत्तम है भगवान् ही नहीं माना जावे। भगवान् को संतुष्ट करने के लिए दुसरों को कष्ट देने से दुसरों को कष्ट पहुँचाने के साथ-साथ कष्ट पहुँचाने वालों को भी विभिन्न प्रकार के कष्ट अवश्य होता है। ऐसे स्व-पर कष्टप्रद धर्म से अच्छा है, धर्म ही नहीं करना। इसी प्रकार अनेक धर्मावलम्बी दूसरे धर्मावलम्बियों को यहाँ तक कि स्व-धर्म के विभिन्न पंथ-मत, आमनाय, परम्परा वालों से भी घृणादि उपर्युक्त दु:व्यवहार करते हैं जैसा कि जैन में दिगम्बर जैन, श्वेताम्बर जैन दिगम्बर जैन में तेरा-

बीसपंथ, बौद्ध में हीनयान-महायान, वैदिक में वैष्णव-शैव, मुसलमान में शिया-सुन्नि, ईसाई में कॅथोलिक-प्रोटेस्टेट आदि परस्पर में घृणादि करने के साथ-साथ वे एक दूसरों से भी घृणादि दुर्व्यवहार करते हैं। यह सब किसी से छिपा हुआ नहीं है। यह तो व्यक्ति से लेकर समाज, राष्ट्र, अतंर्राष्ट्रीय समस्या अभी तो है ही, पहले भी थी। इससे तो व्यक्ति से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय में दु:ख पीडादि है इससे अच्छा है जैन धर्म में वर्णित भोगभूमि कालीन अवस्था जहाँ पर उपर्युक्त किसी भी प्रकार के धर्म नहीं थे परंतु मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी भी शारीरिक, इंद्रियज, मानसिक तथा भौतिक सुख भोगते थे, मनुष्य-मनुष्य, पशु-पशु या मनुष्य-पशु-पक्षी कोई भी कभी भी किसी भी प्रकार के कष्ट परस्पर को दिये बिना सुख से दीर्घकालीन जीवन को जीते थे। इस दृष्टि से तथाकथित उपर्युक्त धर्म से रहित जीवन श्रेष्ठ है। क्योंकि तथाकथित धर्मों से अध्यात्मिक मोक्ष अनंत सुख तो असंभव है ही परंतु संसारिक सुख भी दुर्लभ है। वर्तमान में से अधिकांश वनस्पति तथाकथित उपर्युक्त किसी धर्म को व्यवहार रूप से पालन नहीं करती है परंतु वे परस्पर को या दूसरों को कष्ट नहीं पहुँचाती है किंतु दूसरों पर उपकार ही करती है। इस दृष्टि से वनस्पति तथाकथित धर्मात्मा से अधिक धर्मात्मा है वनस्पति किसी भी धर्म को नहीं मानने पर भी उसे कोई भी धर्मावलम्बी अपना शत्रु नहीं मानता है परंतु अत्यन्त आश्चर्य जनक अविश्वसनिय दु:खद कटु सत्य यह है कि दूसरे धर्मावलम्बी मनुष्य को शत्रु मान लेता है। इस दृष्टि से तथा कथित धर्म से दया, परोपकार, समता, क्षमादि गुण जो कि यथार्थ से धर्म है उसकी हत्या के साथ-साथ दूसरे मनुष्यों से शत्रुता की जाती है इतना ही नहीं निर्दोष पशु-पक्षी की भी हत्या (बलि, कुर्बानी) इसी प्रकार धर्म से होती है इसीलिए ऐसे धर्म के अभाव से सांसारिक सुख तो कम से कम मिलने की संभावना रहती है। इसीलिए सत्य, समता, दया, अहिंसा, परोपकार से रहित धर्म के पालन से तथाकथित किसी भी धर्म का पालन नहीं करना चाहिए। पीने के लिए पानी नहीं मिलने पर जैसा कि विषपान नहीं किया जाता है वैसा ही यथार्थ धर्म का पालन यदि नहीं हो पाता है तो किसी भी प्रकार के तथाकथित अयथार्थ धर्म का पालन नहीं करना ही श्रेष्ठ है। विशेष परिज्ञान के लिए मेरी (आ. कनकनंदी) 1) धर्म दर्शन एवं विज्ञान 2) धार्मिक कुरीतियों का परिशोधन 3) ये कैसे धर्मात्मा निर्व्यसनी, राष्ट्रसेवी आदि कृतियों का अध्ययन अपेक्षित है।

विश्व इतिहास साक्षी है और वर्तमान में प्रायोगिक यथार्थ है कि

धर्मान्धता के कारण जितने भेदभाव, ईर्ष्या-द्वेष लडाई-झगडा से लेकर युद्ध हुए और हो रहे हैं। इतने भेद-भाव आदि सत्ता-संपत्ति, भूमि, स्त्री आदि के लिए भी नहीं होते हैं। पशु-पक्षी में भी तथाकथित धर्म नहीं होने के कारण उनमें भी मनुष्य के जैसे परस्पर में वैरत्व नहीं है इससे सिद्ध होता है कि तथाकथित धर्म से मानव समाज का अहित अधिक हुआ है, भले कुछ-कुछ सज्जन महापुरुष तथा कथित धर्म की परम्परा में जन्म लेकर या उस धर्म की अच्छाईयों को अपनाकर तथा अन्य बुराईयों को त्याग कर और आत्मा में निहीत गुणों का विकास करते हुए श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, महान् सुखी क्यों नहीं बनते हों। इस दृष्टि से भी वे सज्जन पुरुष तथाकथित धर्म से भी अधिक यथार्थ धर्म यथा- सत्य, समता, दयादि को अधिक अपनाते हैं जिससे वे सुखी होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि तथाकथित धर्म से भले व्यक्ति विशेष सुख को प्राप्त करता हो परंतु समूह, समाज को सुख कम मिलता है परंतु दु:ख अधिक मिलता है। परंतु तथाकथित धर्म के बिना भोगभूमिज मनुष्य, पशु-पक्षी जिस भाव एवं व्यवहार को करते हैं भले उससे परम आत्मोत्थ अक्षय अनन्त सुख नहीं मिलता हो किंतु उससे वे यथा योग्य तद्भव में सुदीर्घकाल स्वरूप तीन पल्य, दो पल्य, एक पल्य (एक पल्य असंख्यात वर्ष है) काल को सुख में बिता कर स्वर्ग में जन्म लेते हैं और स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्य जन्म को प्राप्त करते हैं। इसका सविस्तार वर्णन मैंने (आ. कनकनंदी) ''भारतीय आर्य कौन-कहाँ से-कब से-कहाँ के ? पुस्तके में किया है। यहाँ पर कुछ निर्देशन कर रहा हूँ -

देवी-देव-सरिच्छा, बत्तीस-पसत्थ-लक्खणेहि जुदा।
कोमल - देहा - मिहुणा, समचउरस्संग - संठाणा ॥ 382
धादुमयंगा वि तहा, छेत्तुं भेत्तु च ते किर ण सक्का।
असुचि - विहीणत्तादो, मुत्त - पुरीसासवो णत्थि॥ 383

वे भोग भूमिज जीव, देव-देवियों के सदृश बत्तीस प्रशस्त लक्षणों से सहित सुकुमार देह रूप विभव के धारक, समचतुरस्र संस्थान से संयुक्त होते हैं और उनका शरीर धातुमय होते हुए भी छेदा-भेदा नहीं जा सकता एवं अशुचित्व से रहित होने के कारण इनके शरीर में मूत्र व विष्ठा का आस्रव नहीं होता है। (ति.पण्णत्ति)

अक्खर-आलेक्खेसुं, गणिदे गंधर्व-सिप्प-पहुदीसुं।
ते चउसट्ठि - कलासुं होंति सहावेण णिउणयरा ॥ 385

वे अक्षर, चित्र, गणित, गंधर्व, संगीत और शिल्प इत्यादि चौसठ कलाओं में स्वभाव से ही अतिशय निपुण होते हैं।

ते सव्वे वर-जुगला, अण्णोण्णुप्पण्ण-पेम्म-संमुढा।
जम्हा तम्हा तेसुं, सावय - वद - संजमो णत्थि ॥ 386

वे सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेम में अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं, इसलिए उनके श्रावक के व्रत और संयम नहीं होता है।

कोइल- महुरालावा, किण्णर - कंठा हवंति ते जुगला।
कुल - जादि - भेद - हीणा, सुहसत्ता चत्त - दारिद्दा ॥ 387

वे नर-नारी युगल कोयल के समान मधुरमयी, किन्नर के समान कंठ वाले, कुल जाति के भेद से रहित, सुख में आसक्त, और दरिद्र से रहित होते हैं।

तिरिया भोगखिदीए, जुगला जुगला हवंति वर वण्णा।
सरला मन्दकसाया, णाणाविह - जादि - संजुत्ता ॥ 388

भोग भूमि में उत्तम वर्ण विशिष्ट, सरल, मन्दकषायी और नाना प्रकार की जातियों वाले तिर्यञ्च जीव युगल-युगल रूप में होते हैं।

जह मणुवणां भोगा तह तिरियाणं हवंति एदाणं ।
णिय-णिय-जोग्गत्तेणं, फल-कंद-तणंकुरादीणि ॥ 391

जहाँ जिस प्रकार मनुष्यों के भोग होते हैं उसी प्रकार इन तिर्यञ्चों के भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार फल, कन्द, तृण और अङ्कुरादि रूप भोग होते हैं।

बग्घादी भूमिचरा, वायस-पहुदी य खेयरा तिरिया।
मंसाहारेण विणा, भुंजंते सुरतरुण महुर-फलम् ॥ 392

वहाँ व्याघ्रादि भूमिचर और काक प्रभृति नभचर तिर्यञ्च मांसाहार के बिना कल्पवृक्षों के मधुर फल भोगते हैं।

भवाण-वेंतर-जोइस-सुरेसु जायंति मिच्छ-भाव-जुदा।
सोहम्म-दुगे भोगज-णार-तिरिया सम्म-भाव-जुदा ॥ 378

मृत्यु के होने पर भोग भूमिज मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यञ्च, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में तथा सम्यग्दृष्टि मनुष्य, तिर्यञ्च सौधर्म युगल में उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त विषय से विपरीत जो बाह्यत: धर्म तो करते हैं परंतु अन्तरङ्ग

परिणाम में सत्य, समता, दया, करुणा, सरलता, सहजता, पवित्रता आदि यथार्थ धर्म नहीं होता है उसके प्रतिफल स्वरूप जो परिणाम है वह भी गलत होता है, ऐसा व्यक्ति इस भव में तो विभिन्न दु:खों को प्राप्त करता है और मर कर के नरक, तिर्यञ्च, राक्षस, भूत, असुर आदि दु:खदायी पर्यायों में जन्म लेता है। यथा-

लोह-कोह-भय-मोह बलेणं, जे वदंति वयणं पि असच्चम्।
ते णिरंतर भये उरु-दुक्खे, दारुणम्मि णिरयम्मि पढंते ॥ 376

जो जीव लोभ-क्रोध-भय अथवा मोह के बल से असत्य वचन बोलते हैं, वे निरन्तर भय उत्पन्न करने वाले महान् कष्ट कारक और अत्यन्त भयानक नरक में पडते हैं।

जे-कोह-माण-माया-लोहसत्ताकिलिट्ठ-चारित्ता।
वइराणबुद्ध - रुचिणो, ते उप्पज्जंति असुरेसु ॥ 20

जो क्रोध, मान, माया और लोभ में आसक्त है, दुश्चारित्र वाले (क्रूराचारी) है तथा वैर भाव में रुचि रखते हैं- वे असुरों में उत्पन्न होते हैं।

जे केइ अण्णाण - तवेहि जुत्ता, णाणाविहुप्पाडिद-देह-दुक्खा।
घेत्तुण सण्णाण - तवं ति पावा, डज्झतिं जे दुव्विसयापसत्ता॥
विसुद्ध - लेस्साहि सुराउ - बंध, काऊण कोहादिसु घादिदाऊ ।
सम्मत - संपत्ति विमुक्ख - बुद्धि, जायंति एदे भवणेसु सव्वे॥ 253

जो कोई अज्ञान तप से युक्त होकर शरीर में नाना प्रकार के कष्ट उत्पन्न करते हैं, तथा जो पापी सम्यग्ज्ञान से युक्त तप को ग्रहण करके भी दुष्ट विषयों में आसक्त होकर जला करते हैं, वे सब विशुद्ध लेश्याओं से पूर्व में देवायु को बांध कर पश्चात् क्रोधादि कषायों के द्वारा उस आयु का घात करते हुए सम्यक्त्व रूप संपत्ति से मन हटाकर भवन वासियों में उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकरण को लिखने का मेरा अन्तरङ्ग अभिप्राय यह है कि वस्तुत: धर्म, सत्य, समता, दया, करुणा, सेवा, परोपकार, दान, सद्विचार, सद्व्यवहार आदि रूप है। इसके बिना किसी भी धर्म के अनुयायी मात्र बनकर केवल उसके बाह्य क्रिया काण्ड को अखण्ड रूप में कठोरता से निरतिचार से पालन करने पर भी कोई यथार्थ से धार्मिक नहीं बन जाता है। धार्मिक बनना तो अतिदूर परंतु शास्त्रों के अध्ययन से तथा लाखों व्यक्तियों के अनुभवों से ज्ञात होता है कि ऐसा व्यक्ति बाह्य क्रिया काण्डों को नहीं करने वाले सरल-

सहज व्यक्तियों से भी अधिक अधार्मिक (घमण्डी, क्रोधी, द्वेषी, ईर्ष्यालु, मायावी, संकीर्ण) पाये जाते हैं। इसलिए ऐन-केन प्रकार से सदा, सर्वदा, सर्वथा, सनम्र, सत्यग्राही, समताधारी, सरल-सहज, पवित्र बनने का मनसा, वचसा, कर्मणा पुर्णत: पुरुषार्थ करना ही धर्म है। यह ही सम्पूर्ण सुख के कारण है। अन्य सब अधर्म है और सम्पूर्ण दु:खों के लिए कारण है।

कुबोधरागादिविचेष्टितै: फलम्, त्वयापि भूयोजननादि लक्षणम्।
प्रतीहि भव्यप्रतिलोमवर्तिभि ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम्॥ 106

आत्मानुशासन

अर्थात् विपरीत खोटा ज्ञान, राग, द्वेष, ईर्ष्या, विपरीत आचरण के फलस्वरूप हे आत्मन् ! तुमने जन्म, मरणादि अनेक दु:खों को भोगा है। अत: उपर्युक्त विपरीत ज्ञानादि से विपरीत (- × - = +) अर्थात् सम्यग्ज्ञान, समता, सरल-सहजता आदि का आचरण करो जिससे निश्चय से तुम्हें दु:ख के विपरीत सुख प्राप्त होगा।

दयादमत्यागसमाधिसन्तते:, पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्ययवश्यं वचसामगोचर, विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ॥ 107 **आ. शा.**

अर्थात् दया, इंद्रिय-मन-दमन, मन की आत्मा में लीनता रूपी समाधि आदि सुख के पथिक को प्रगतिशील बनाकर वचन के अगोचर, संकल्प-विकल्प (चंचलता/ अस्थिरता, तनाव) से दूर परम सुख में पहुँचा देते हैं।

धर्म का अनुभव :–

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अनुभव कर सकता है कि वह धार्मिक है अथवा नहीं है। यदि व्यक्ति स्वयं तनाव से मुक्त हल्का-फुल्का अनुभव करता है, मन में आह्लाद पूर्ण शांति का अनुभव करता है, किसी के प्रति मन में मोह, आसक्ति, द्वेष, घृणा अनुभव नहीं करता हो, मन/भाव में स्थिरता/समता रखता हो, सनम्र सत्यग्राही हो, अपना-पराया भेद-भाव से रहित सर्वजन हिताय-सर्वजन सुखाय भावना को भाता हो, शक्ति को बिना छिपाये अपने नैतिक कर्त्तव्यों का पालन करता हो; न किसी से डरता हो, न किसी को डराता हो, न किसी से दबता हो, न किसी को दबाता हो, सरल-सहज, सादा जीवन उच्च विचार वाला हो, फैशन-व्यसनों से रहित हो, संकीर्ण स्वार्थ निष्ठ न हो, क्षोभ-लोभ-क्रोध-मान-माया-कामादि विकारों के दास न हो हिताहित

विवेक से युक्त हो, मन-वचन-काय-कार्य से कृत-कारित-अनुमोदना से किसी भी प्रकार के पाप, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, हिंसा, असत्य, परिग्रह, अब्रह्मचर्य, क्रोधादि कषाय का सेवन नहीं करता हो, त्याग करने का पुरुषार्थ पूर्णत: निष्कपट रूप से करता हो वह धार्मिक है। इन सब कारणों से उसे आनन्द/प्रसन्नता/सुख का अनुभव होता हो, क्योंकि सुख जीव का शुद्ध स्वरूप धर्म है। जितना-जितना शुद्ध स्वरूप प्रकट होता जायेगा उतना-उतना सुख अनुभव होता जायेगा। अर्थात् आध्यात्मिक सुख ही धर्म है, आध्यात्मिक दु:ख ही अधर्म है अर्थात् जो जितना आध्यात्मिक सुखी है वह उतना धार्मिक है और जो जितना आध्यात्मिक दु:खी है वह उतना ही अधार्मिक है। जिसके पास जो है वह वही दे सकता है इस न्याय से जो दूसरों को सुख देता है वह सुखी है, धार्मिक है तो जो दूसरों को दु:ख देता है वह दु:खी है, अधार्मिक है। धर्म के समान ही जिन कारणों /कारकों / विषयों से व्यक्ति संकीर्ण, स्वार्थी, क्रूर, हिंसक, कषायवान, अंधश्रद्धालु / अंधविश्वासी बनता है वह भी घातक सिद्ध होता है न की साधक।

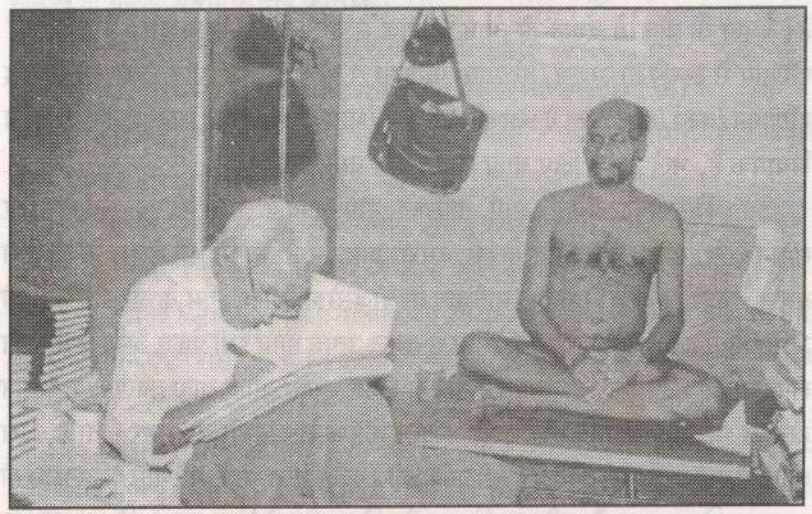

आ. श्री कनकनंदीजी गुरूदेव से विचार–विमर्श एवं शोधवार्ता करते हुए प्रो. एम.एम. बजाज (जैन) वैज्ञानिक

परिणाम (भाव) से संभव - परिणाम (फल)

भाव से स्वर्ग-नरक-मोक्ष

भाव, भावना, संभावना, संभाव्य, भावित, संभावित, भवितव्य, भव्य, भगवान् आदि के शब्द, अर्थ, रहस्य, विशेष-विशेषण आदि ''कार्यकारण भाव'' एवं अन्त: सम्बन्ध से भावित है। यह वर्णन विधि परक है तो अभाव, भावनाशून्य, असंभव, अभावित, असंभावित, अभवितव्य, अभव्य, अभगवान् आदि के शब्द, अर्थ, रहस्य, विशेष-विशेषण आदि भी ''कार्यकारण सिद्धान्त'' एवं अन्त: सम्बन्ध से सहित है। परंतु यह वर्णन निषेध परक है। **'जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे', 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि', 'जई मई तई गई होई',** 'As you sow so you reap', 'As you think so you become', 'To every action there is an equal and opposite reaction', आदि सूत्र से भी सिद्ध होता है कि जिसका सद्भाव/भाव/होना/सत् होता है उसमें ही परिणमन होकर भविष्य का कार्य होता है। वर्तमान रूपी बीज से भविष्यत् रूपी वृक्ष/पुष्प/फल उत्पन्न होते हैं। 'As you sow so you reap', अर्थात् 'जैसा बोओगे वैसा ही पाओगे/काटोगे के अनुसार जीव के अन्तरङ्ग भाव रूपी बीज ही बाह्य निमित्त रूपी जल, वायु, खाद के सहयोग से अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित, फलीभूत होते हैं। बबूल के बीज से बबूल तो आम के बीज से आम के अनुसार शुभ/अच्छे भाव/परिणाम से अच्छे तो अशुभ/बुरे भाव/परिणाम से बुरे तथा शुद्ध/पवित्र परिणाम से शुद्ध परिणमन/कार्य/फल होता है। अर्थात् परिणाम/भाव ही परिणाम (फल, कार्य) के मुख्य नियामक है, भले उसके लिए बाह्य कारक और क्यों न हो ?

जिस प्रकार बबूल, आम, नारियल, नीम आदि के बीजों को एक खेत में बोकर समान जल, खाद, वायु, सूर्य किरण, सुरक्षा प्राप्त कराने के बाद भी बबूल के बीज से बबूल, आम के बीज से आम, नारियल के बीज से नारियल, नीम के बीज से नीम ही उत्पन्न होगा न कि बबूल से आम, आम से बबूल उत्पन्न होगा इसी प्रकार अन्य में भी जान लेना चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण में जमीन से लेकर सुरक्षा आदि बाह्य कारण एक समान होने पर भी बबूल आदि बीज रूपी अन्तरङ्ग कारण के अनुसार ही अङ्कुर होता है, वृक्ष बनता है, पुष्प एवं फल आते हैं। इसी प्रकार जीव के अन्तरङ्ग भाव/परिणाम के अनुसार ही उसका भविष्य बनता है, परिणाम मिलता है। जिस जीव में जिस प्रकार की भावनात्मक क्रिया होती है उसी जीव में समानुपाती विपरीत क्रिया होती है। दूषित पापात्मक भावक्रिया होने पर उसकी विपरीत समानुपाती प्रतिक्रिया अर्थात् नरक, तिर्यञ्च रूपी गति की उपलब्धि

होती है। प्रशस्त पुण्यात्मक भावात्मक क्रिया के प्रतिफल स्वरूप देव गति की उपलब्धि होती है। परिशुद्ध पुण्य-पाप से रहित भावात्मक क्रिया होने पर उसकी प्रतिक्रिया फल स्वरूप सिद्ध गति/अवस्था की उपलब्धि होती है। यही वैज्ञानिक भावात्मक क्रिया-प्रतिक्रियात्मक विश्व का मूलभूत सिद्धान्त है।

पावेण णिरिय तिरियं गुम्मई धम्मेण देव लोयं तु ।
मिस्सेण माणुसत्तं दोण्णंपि खयेण णिव्वाणं ॥

पाप कर्म से नरक तिर्यञ्च गति, पुण्य से देव गति, पुण्य-पाप मिश्रण से मनुष्य गति एवं पुण्य पाप दोनों के क्षय से पञ्चम गति सिद्ध गति/अवस्था प्राप्त होती है।

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि की दुर्दशा से निवृत होकर शाश्वतिक, अक्षय, आत्मोत्थ, आध्यात्मिक सुख शांति, वैभव को प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक निर्मल भाव को सतत् भाना चाहिए, उसके अनुसार वचन एवं व्यवहार करना चाहिए क्योंकि अभ्यन्तर विशुद्धि से बाह्य व्यवहार, वचन आदि में भी शुद्धता आती है।

अब्भंतरसोधीए बाहिरसोधी वी होवि णियमेण ।
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥ 1910 ***भ. आ.***

अभ्यन्तर में विशुद्धि होने पर बाह्य विशुद्धि नियम से होती है। अभ्यन्तर में दोष होने से ही मनुष्य शारीरिक दोष करता है।

लेस्सासोधी उज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ।
अज्झवसाण विसोधी मंदकसायस्स णादव्व ॥ 1905

परिणामों की विशुद्धि होने से लेश्या की विशुद्धि होती है और जिसकी कषाय मन्द है उसके परिणामों में विशुद्धि होती है।

दंसण-णाण-चरित्तं सरणं सेवेह परम सद्धाए ।
अण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं ॥ 30 का. प्रेक्षा पृ. 15

हे भव्य ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र शरण है। परम श्रद्धा के साथ उन्हीं का सेवन कर। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को उनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

संसार में यदि कोई शरण है तो व्यवहार और निश्चय रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र शरण है। अत: प्रत्येक भव्य को उन्हीं का सेवन करना चाहिए। जीव अजीव आदि तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्त्व है और व्यवहार सम्यक्त्व के द्वारा साधने योग्य वीतराग सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। आत्मा के और पर पदार्थों के संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते हैं और

उनके स्वरूप के निर्विकल्प रूप से जानने को निर्विकल्प रूप स्वसंवेदन ज्ञान को निश्चय ज्ञान कहते हैं। अशुभ कार्यों से निवृत होना और शुभ कार्यों में प्रवृत होना व्यवहार सम्यग्चारित्र है और संसार के कारणों को नष्ट करने के लिए ज्ञानी के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग क्रियाओं के रोकने को निश्चय चारित्र कहते हैं।

अप्पा णं पि य सरणं खमादि-भावेहिं परिणदो होदि।
तिव्व कसायविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण ॥31

आत्मा को उत्तम क्षमा आदि भावों से युक्त करना भी शरण है। जिसकी कषाय तीव्र होती है, वह स्वयं अपना ही घात करता है।

संसार के मूढ प्राणी शरीर को आत्मा समझकर उसकी रक्षा के लिए शरण की खोज में भटकते फिरते हैं। किंतु आत्मा शरीर से पृथक् वस्तु है। वह अजर और अमर है। शरीर के उत्पन्न होने पर न वह उत्पन्न होता है और न शरीर के छूटने पर नष्ट हेाता है। अत: उसके विनाश के भय से शरण की खोज में भटकते फिरना और अपने को अशरण समझकर घबराना अज्ञानता है। वास्तव में आत्मा स्वयं ही अपना रक्षक है और स्वयं ही अपना घातक है; क्योंकि जब हम काम, क्रोधादि के वश में होकर दूसरों को हानि पहुँचाने पर उतारु होते हैं तो पहले अपनी ही हानि करते हैं; क्योंकि काम, क्रोधादि हमारे सुख, शांति को नष्ट करते हैं तथा हमारी बुद्धि को भ्रष्ट करके हमसे ऐसे ऐसे दुष्कर्म करा डालते हैं जिनका हमे बुरा फल भोगना पडता है। अत: आत्मा स्वयं ही अपना घातक है। यदि हम काम, क्रोधादि को वश में करके उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम सत्य आदि सद्गुणों को अपनाते हैं तो और अपने अन्दर ऐसा कोई विकार उत्पन्न नहीं होने देते, जो हमारी सुख, शांति को नष्ट करता हो तथा हमारी बुद्धि को भ्रष्ट करके हमसे दुष्कर्म करवा डालता हो तो हम स्वयं ही अपने रक्षक हैं; क्योंकि वैसा करने से हम अपने को दुर्गति के दु:खों से बचाते हैं और अपने आत्मा के उन्नति में सहायक होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए की आत्मा का दुर्गुणों से लिप्त हो जाना ही उसका घात है और उसमें सद्गुणों का विकास होना ही उसकी रक्षा है; क्योंकि आत्मा एक ऐसी वस्तु है जो न कभी मरता है न जन्म लेता है। अत: उसके मरण की चिंता ही व्यर्थ है। इसीलिए ग्रंथकार ने बतलाया है कि रत्नत्रय का शरण लेकर आत्मा को उत्तम क्षमादि रूप परिणत करना ही संसार में शरण है, वही आत्मा को संसार के कष्टों से बचा सकता है।

धम्मो वत्थु-सहावो खमादि-भावो य दस-विहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥ 478

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। दस प्रकार के क्षमादि भावों को धर्म कहते

हैं। रत्नत्रय को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं।

जीव आदि पदार्थों के स्वरूप का नाम धर्म है। जैसे जीव शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य स्वरूप है। यही चैतन्य उसका धर्म है। अग्नि का स्वरूप ऊष्णता है। यही उसका धर्म है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आक्रिचन्य, ब्रह्मचर्य रूप आत्मपरिणाम को भी धर्म कहते हैं। इसी को शास्त्रों में धर्म के दस भेद कहा है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप तीन रत्नों को भी धर्म कहते हैं तथा सब प्रकार के प्राणियों की रक्षा करने को भी धर्म कहते हैं। क्योंकि ऐसा कहा है कि धर्म का लक्षण अहिंसा है।

रयणाण महा-रयणं सव्व-जोयाण उत्तमं जोयं।
रिद्धिण महा-रिद्धि सम्मत्तं सव्व-सिद्धियरं ॥325

सम्यक्त्व सब रत्नों में महारत्न है, सब योगो में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है अधिक क्या सम्यक्त्व सब सिद्धियों को करने वाला है।

पुष्पराग, वैडूर्य आदि रत्नों में सम्यग्दर्शन महारत्न है, क्योंकि वह इंद्र, अहमिंद्र और सिद्ध पद का दाता है। इसलिए सम्यग्दर्शन एक अमूल्य रत्न है तथा धर्मध्यान आदि सब ध्यानों में उत्तम ध्यान है। अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियों में अथवा बुद्धि, तप, विक्रिया आदि ऋद्धियों में सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि है क्योंकि बिना सम्यक्त्व के न उत्तम ध्यान होता है और न उत्तम ऋद्धियों की ही प्राप्ति होती है।

सम्मत्त-गुण-पहणो देविंद-णरिंद-वंदिओ होदि।
चत्त वओ वि य पावदि सग्ग सुहं उत्तमं विविहं ॥326

सम्यक्त्व गुण से विशिष्ट अथवा सम्यक्त्व गुणों से विशिष्ट जीव देवों के इंद्रों से तथा मनुष्यों के स्वामी चक्रवर्ती आदि से वन्दनीय होता है। और व्रत रहित होते हुए भी नाना प्रकार के उत्तम स्वर्ग सुख को पाता है।

सम्यक्त्व के 25 गुण बतलाएँ हैं। तीन मूढता, आठ मद, छ: अनायतन, आठ शंकादि दोष इन 25 दोषों को टालने से सम्यक्त्व के 25 गुण होते हैं। बालू और पत्थर का ढेर लगाकर पूजना, पहाड से गिरकर मरना, आग में जलकर मरना ये सब लोक मूढता हैं। लोक में प्रचलित इन मूढताओं का त्याग करना सम्यक्त्व का प्रथम गुण है। रागी-द्वेषी देवों की सेवा करना देव मूढता है। इस देव विषयक मूढता को छोडना दूसरा गुण है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से घिरे हुए कुगुरुओं को नमस्कार करना आदि गुरु मूढता है। इस गुरु विषयक मूर्खता को छोडना तीसरा गुण है। आठों मदों को छोडने से सम्यक्त्व के आठ गुण होते हैं। इस तरह ये 11 गुण है।

अनादि काल से जीव मोह, अज्ञान, राग-द्वेषादि अशुद्ध भाव के कारण जायमान कर्म/संस्कार के कारण पुनः मोहादि भावों को करता हुआ संसार में विभिन्न दुःखों को भोगता है। अतःएव सुख प्राप्ति के लिए अनादि कालीन भावित मोहादि को त्याग करके निर्मल भावों को भाना चाहिए। यथा -

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्राग्भाविताः ।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः । 238 आत्मानु.

मैंने संसार रूप भँवर में पडकर पहले कभी जिन सम्यग्दर्शनादि भावनाओं का चिंतन नहीं किया था उनका अब चिंतन करता हूँ और जिन मिथ्या दर्शनादि भावनाओं को बार-बार चिंतन कर चुका हूँ उनका अब मैं चिंतन नहीं करता हूँ। इस प्रकार मैं अब पूर्व भावित भावनाओं को छोडकर उन अपूर्व भावनाओं को भाता हूँ। क्योंकि इस प्रकार की भावनाएँ संसार विनाश का कारण होती हैं।

कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम् ।
प्रतिहि भव्य प्रतिलोमवृत्तिभिः ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम् । 106

हे भव्य ! तूने बार-बार मिथ्या ज्ञान एवं राग-द्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म मरणादि रूप फल प्राप्त किया है उसके विरुद्ध प्रवृत्ति-सम्यग्ज्ञान और वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल अजर-अमर पद को प्राप्त करेगा। ऐसा निश्चय कर।

दयादमत्यागसमाधिसंततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्प्य दूरं परमं किमप्यसौ । 107

हे भव्य ! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इंद्रिय दमन, दान, ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है जो वचन से अनर्विचनीय है एवं समस्त विकल्पों से रहित है। दीन-दुःखी प्राणियों को देखकर उनके साथ जो हृदय में सहानुभूति का भाव उदित होता है वह दया कहलाती है। यह धर्म की जड है क्योंकि इसके बिना धर्म स्थिर नहीं रह सकता। कहा भी है -

धर्मो नाम कृपामूलं सा तू जीवानुकम्पनम् ।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिकलक्षणम् ॥

अर्थात् धर्म की आधारभूत दया है और उसका लक्षण है प्राणियों के साथ सहानुभूति। इसलिए जो अरक्षित प्राणियों की रक्षा करता है वही धार्मिक माना जाता है। दूसरे शब्द में इस दया को अहिंसा कहा जा सकता है और अहिंसा में चूंकि सत्यादि का अन्तर्भाव होता है अतएव वह दया पञ्च व्रतात्मक ठहरती है। दम का अर्थ है राग-द्वेष के

दमन पूर्वक इंद्रियों का दमन करना उन्हें अपने नियंत्रण में रखना अथवा स्वेच्छाचार में प्रवृत्ति न होने देना। इसे दूसरे शब्द में संयम भी कहा जा सकता है जो इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम के भेद से दो प्रकार का है। त्याग से अभिप्राय बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग एवं दान का है। समाधि से तात्पर्य धर्म और शुक्ल रूप समीचीन ध्यान से है। इस प्रकार जो विवेकी जीव मन, वचन और काय की सरलता पूर्वक उपर्युक्त दया आदि चारों की परम्परा का अनुसरण करता है वह निश्चय से अविनश्वर पद को प्राप्त करता है।

विज्ञाननिहितमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव ।
त्यागः परिग्रहाणमवश्यमजरामरं कुरुते ॥ 108

विवेक ज्ञान के द्वारा मोह के नष्ट हो जाने पर किया गया परिग्रहों का त्याग निश्चय से जीव को जरा और मरण से रहित इस प्रकार कर देता है जिस प्रकार कि कुटी प्रवेश क्रिया शरीर को विशुद्ध कर देती है।

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान् ।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तवज्ञानता ॥ 212

यदि तू कष्ट को न सह सकने के कारण घोर तप का आचरण नहीं कर सकता है तो न कर। परंतु जो कषायादिक मन से सिद्ध करने योग्य है -जितने योग्य है उन्हें भी यदि नहीं जीतता है तो वह तेरी अज्ञानता है।

तपःश्चरण में भूख आदि के दुःख को सहना पडता है इसलिए अनशन आदि तपों को नहीं किया जा सकता है तो भी न किया जाय। परंतु जो राग-द्वेष एवं क्रोधादि आत्मा का अहित करने वाले हैं उनको तो भली प्रकार से जीता जा सकता है। कारण है कि उनके जीतने में न तो तप के समान कुछ कष्ट सहना पडता है और न मन के अतिरिक्त किसी अन्य सामग्री की अपेक्षा करनी पडती है इसलिए उक्त राग-द्वेषादिक को तो जीतना ही चाहिए। फिर यदि उनको भी प्राणी यदि नहीं जीतना चाहता है तो यह उसकी अज्ञानता ही कही जायेगी।

हृदयसरसिऽयावन्निर्मले प्यत्यगाधे वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात् ।
श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं संयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ॥ 213

निर्मल और अथाह हृदय रूप सरोवर में जब तक कषाय रूप हिंस्र जल जंतुओं का समूह निवास करता है तब तक निश्चय से यह उत्तम क्षमादि गुणों का समुदाय निःशंक होकर उस हृदय रूप सरोवर का आश्रय नहीं लेता है इसलिए हे भव्य ! तू व्रतों के साथ-साथ तीव्र, मध्यमादि उपशम भेदों से उन कषायों को जीतने का प्रयत्न कर।

भाव को सर्वोपरि महत्व इसलिए है कि भाव के अनुसार ही कर्म बंध, कर्म

निर्जरा, कर्म मोक्ष होता है। इतना ही नहीं पुण्य-पाप, सुख-दुःख, सफलता-असफलता मुख्यतः भाव पर ही निर्भर है। यथा -

पापं हवई असेसं पुण्णं असेसं हु परिणाम् ।
परिणामेण बन्ध मोक्ख जिणसासणे दिट्ठम् ॥

जिस प्रकार मद्यपान की इच्छा होने पर व्यक्ति मद्यपान करता है और मद्यपान से उसके शरीर, मन, तंत्रिकातंत्र, क्रिया-कलाप आदि मद्य से प्रभावित होते हैं उसी प्रकार जीव के योग (आत्मप्रदेश के कंपन) एवं उपयोग (भाव, विचार, संवेग, आवेग) से भी कर्म प्रभावित होता है। शुभयोग उपयोग से कर्म परमाणु पुण्य (सुप्रशस्त, सुखदायी) कर्म रूप में परिणमन करते हैं तो अशुभ योग उपयोग से वे ही कर्म परमाणु पाप (अशुभ, अप्रशस्त, दुःखदायी) कर्म रूप से परिणमन कर लेते हैं। तथा शुद्ध उपयोग (शुभ-अशुभ से परे आत्मा के निर्मल परिणाम) से कर्म परमाणु किसी भी प्रकार के पुण्य-पाप रूप से परिणमन नहीं करते हैं। उपर्युक्त तीनों परिणामों से केवल नवीन कर्म परमाणुओं में उपर्युक्त परिणमन नहीं होते हैं परंतु बंधे हुए प्राचीन परमाणुओं में भी परिवर्तन होते हैं। शुद्ध परिणाम से बंधे हुए प्राचीन कर्म परमाणुओं में भी शिथिलता (ढीलापन, गलन) आती है जिससे कर्म की निर्जरा या क्षय हो जाता है। इस सिद्धान्त को किसी न किसी रूप से मनोविज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, जीनोम थ्योरी, कानून आदि स्वीकार करते हैं तथा अनुभव में भी आता है। मनोविज्ञान (शरीर विज्ञान) के अनुसार अच्छे भाव से शरीर की ग्रंथियों से जो रस स्राव होता है वह गुणकारी होता है और दूषित भाव से जो स्राव होता है वह हानिकारक होता है। यहाँ तक कि प्रेमभाव से जब माता बच्चों को दूधपान कराती है तो वह दूध अमृत का काम करता है परंतु वही दूध दूषित परिणाम से विष तुल्य बन जाता है। इसी प्रकार आत्मविश्वास, अनुकूल विचार आदि अच्छे परिणाम से रोग प्रतिरोधक शक्ति बढती है, रोग शीघ्र दूर होते हैं।इससे विपरीत आत्म विश्वास की कमी, प्रतिकूल विचार आदि से रोग प्रतिरोधक शक्ति घटती है, रोग शीघ्र दूर नहीं होते हैं। इतना ही नहीं दुश्चिन्ता, आवेग, क्रोध, ईर्ष्या, तनाव, उद्वेग आदि दुषित भाव से विभिन्न मानसिक, शारीरिक रोग होते हैं तथा दया, सेवा, परोपकार, क्षमा, मृदुता, सरलता-सहजता, सादा जीवन उच्च विचार से प्रायः रोग नहीं होते हैं और रोग होने पर उसका परिणाम भयंकर नहीं होता है। उपर्युक्त अच्छे परिणाम से रोग प्रतिरोधक शक्ति बढती है। श्वेत रक्त कणिकाओं में वृद्धि होती है, आभामंडल (ओरा) शुभ/उत्तम बनता है। जीनोम थ्योरी के अनुसार विभिन्न जीन के अनुसार विभिन्न भाव, रोग, अङ्ग-उपाङ्ग होते हैं। उस जीन में परिवर्तन होने पर या करने पर उस-उस जीन सम्बन्धी भाव आदि में परिवर्तन भी होता है। प्रायश्चित्त, कानून में भी जो दोष को सच्चे

भाव से स्वीकार करता है, क्षमा, प्रार्थना करता है, पुनः दोष नहीं करने की प्रतिज्ञा करता है उसके भाव में निर्मलता आती है, तनाव दूर होता है, दूसरे भी उसे क्षमा कर देते हैं; गुरु, न्यायाधीश उसे दोष मुक्त कर देते हैं या कम दण्ड देते हैं।

भाव ही कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणी, तप वैतरणी

जीवं परिणाम हेदुं सम्मत्तं पुग्गल परिणमंति ।
पुग्गल कम्माणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमादि ॥स. सार

जीव परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल कर्म भाव से परिणमन करते हैं। इसी प्रकार दैव को शक्ति प्रदान करने वाला पुरुष (परम पुरुषार्थ से हीन पुरुषार्थ) और उस कर्म शक्ति के अनुशासन में शासित में होने वाला पुरुष जब उसको शक्ति प्रदान करता है तब दैव विभिन्न कार्य करता है।

जह पुरसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेय विहं ।
मंसवसारूहिरादिभावे उदयरग्गि संजुत्तो ॥स. सार

जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि से युक्त हुआ, अनेक प्रकार मांस, रुधिर आदि भावों के रूप में परिणमता है उसी प्रकार कर्म पुद्गल भी जीवों के रागादि भावों को प्राप्त करके आठ प्रकार अथवा अनेक प्रकार दैव रूप में परिणमन करता है।

भोजन से पहले खाद्य सामग्री, भात-दाल आदि रूप में रहती है। भोजन करने से वही खाद्य सामग्री खाने वाले के चर्वण, लार, पाचन-शक्ति आदि के निमित्त से रस, रुधिर, मांस, मेद (चर्बी), अस्थि, मज्जा, वीर्य, ओज आदि रूप परिणमन हो जाती है। इसी प्रकार कर्म वर्गणाएँ जब तक जीव के योग और उपयोग के निमित्त प्राप्त करके आस्रव एवं बंध रूप परिणमन नहीं करती है तब तक वह वर्गणा केवल भौतिक पुद्गल स्वरूप ही रहती है। जीव के योग और उपयोग को प्राप्त करने से पहले कर्म वर्गणा जड रूप में रहती है एवं योग तथा उपयोग रूपी जीव के शुभाशुभ निमित्त को प्राप्त करके दैव रूप में परिणमन कर लेती है। इससे सिद्ध होता है कि दैव भी पुरुषार्थ से जायमान (उत्पन्न) होते हैं। जैसे अण्डा से पक्षी जायमान होते हैं और पक्षी से अण्डा जायमान। जैसे बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से बीज जायमान है उसी प्रकार कथंचित् कर्म (दैव) से पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थ से कर्म उत्पन्न होता है। अभव्य जीव के दैव एवं पुरुषार्थ की परम्परा अनादि अनन्त होते हुए भी मोक्ष जाने वाले भव्यों की यह परम्परा अनादि सान्त है।

आदा कम्म मलिमसो परिणामं लहदि कम्म संजुत्तं ।
ततो सिलसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥प्र. सार

''संसार'' रूपी जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का परिणाम है) वही

द्रव्य कर्म के चिपकने (बंध) हेतु है अब उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है ? इसका उत्तर है कि द्रव्य कर्म उसका हेतु है क्योंकि द्रव्य कर्म की संयुक्तता से ही वह भाव कर्म है।

ऐसा होने से इतरेतराश्रय दोष आयेगा क्योंकि अनादि सिद्ध द्रव्य कर्म के साथ संबंध आत्मा का जो पूर्व का द्रव्य कर्म है उसको वहाँ हेतु रूप से ग्रहण किया गया है। इस प्रकार नवीन द्रव्य कर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्य कर्म जिसका कारणभूत है ऐसा आत्मा का तथाविध परिणाम होने से वह उपचार से द्रव्य कर्म ही है और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्ता भी उपचार से है।

जीव परिणाम हेवुं कम्मत्तं पुग्गला परणमंति ।
पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णं णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥ स. सार

यद्यपि जीव के राग-द्वेषादि परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मत्त्व रूप परिणमन करता है वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीव कर्म के गुण रुपादिक स्वीकार नहीं करता उसी भाँति कर्म भी जीव के चेतनादिक गुणों को स्वीकार नहीं करता किंतु मात्र इन दोनों का परस्पर एक-दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सयेण भावेण ।
पुग्गल कम्म कदाणं ण दु कत्ता सव्व भावाणं ॥ स. सार

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त कारणपना है इसका व्याख्यान किया गया है।

व्यवहार नय से भिन्न षट्कारक के अनुसार जीव के रागद्वेष का निमित्त पाकर कर्म परमाणु द्रव्य कर्म रूप में परिणमन करता है। द्रव्य कर्म के उदय से भाव कर्म उत्पन्न होते हैं परंतु निश्चय नय से एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं होने से जीव परिणाम के हेतु पुद्गल नहीं है एवं पुद्गल के परिणाम के हेतु जीव नहीं है। पञ्चास्तिकाय में कहा भी है -

निश्चय नयेनाभिन्नकारकत्वात्कर्मणो जीवस्य च स्वयं स्वरुप कर्तृत्व मुक्तम् ।

निश्चय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं स्वरूप के अपने-अपने रूप का कर्ता है। निश्चय से जीव पुद्गल का कर्ता नहीं होने पर भी व्यवहार नय से कर्ता है। अत:

उन्नतमानस यस्य तस्य भाग्यं समुन्नतम् ।
नोन्नतमानस यस्य तस्य भाग्यमसमुन्नतम् ॥

जिसके मन/भाव उन्नत है उसके भाग्य उन्नत है और जिसके भाव उन्नत / श्रेष्ठ

नहीं है उसके भाग्य भी उन्नत नहीं है क्योंकि प्रत्येक जीव स्व भाग्य के निर्माता, उपभोक्ता, संहार कर्ता है। महात्मा बुद्ध ने भी कहा है -

अप्पा कत्ता विकत्ता च दुक्खाणं च सुहाणय ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिय ॥

आत्मा स्वयं के सुख-दुःख का कर्ता है। सुपथगामी आत्मा स्वयं के मित्र है तो कुपथगामी आत्मा स्वयं के लिए शत्रु है।

उद्धरेदात्मनात्मनं (ना) आत्मनमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

आत्मा (स्वयं) के द्वारा आत्मा का उद्धार करना चाहिए। आत्मा का पतन नहीं करना चाहिए। आत्मा ही आत्मा का बंधु है एवं आत्मा ही अत्मा का शत्रु है। ''भाव्यतेऽनेनेति भावना'' अर्थात् जिससे आत्मा भावित होता है वह भावना है। इस दृष्टि से जिस भावना को जीव भाता है वह उसमय (तन्मय) हो जाता है। यथा -

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।
यादृशास्तन्तवः काम तादृशी जायते पटः ॥

जैसी भावना होती है वैसी ही सिद्धि होती है जैसा कि जिस प्रकार के तंतु (धागा) होती है उसी प्रकार का वस्त्र होता है।

प्राचीन उपनिषदकारों ने सुप्त जीवों को जागृत करने के लिए आह्वान करते हुए कहा है-

आस्ते भग आसीन् स्योर्ध्व तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निषद्य मानस्य चरति चरतो भगः ॥ चरेवैति-चरेवैति

पुरुषार्थ हीन होकर बैठे रहने से भाग्य भी बैठा रहता है। पुरुषार्थ से खडा होने से भाग्य भी खडा हो जाता है। पुरुष पुरुषार्थ हीन होने से भाग्य सो जाता है। प्रबल पुरुषार्थ से आगे बढने से भाग्य भी आगे बढता है। इसलिए हे पुरुषार्थी आगे बढते चलो ! बढते चलो !!

कलिः शयनो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठं त्रेता भवति कृतः संपद्यते चरन् ॥ चरेवैति-चरेवैति

पुरुष शयन करने से उसके लिए वह समय कलियुग होता है अर्थात् पुरुषार्थ नहीं करना कलियुग को आह्वान करना है, पुरुषार्थ होने पर, जागृत होने पर उसके लिए वह काल द्वापर युग होता है। कार्य करने के लिए खडे होने पर वह काल उसके लिए त्रेता युग हो जाता है, कार्य करने के लिए आगे बढने से वह काल सतयुग हो जाता है। इसलिए हे पुरुषार्थी ! सत्य को प्राप्त करने के लिए आगे बढते ही चलो बढते ही चलो।

यत्रैवाहित धीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।

यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते // 94 स. शतक

मनुष्य की बुद्धि जहाँ जाती है श्रद्धा (रुचि, विश्वास) वहाँ जाती है तथा जहाँ श्रद्धा जाती है वहाँ पर चित्त लगता है/लीनता को प्राप्त करता है। अत:एव -

We see thing not as they are but as we are. Beauty lies in the eye of the beholder.

'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।'

Action is the end of thought (रोम्या रोलो)

The essence of education is that it be religious (व्हाईट हेड)

अशुभ, शुभ, शुद्ध भाव की पहचान

1) अशुभ भाव :- जो भाव असत्य, संकीर्णता से युक्त क्रोध, मान, माया, लोभ से आवेशित, हिंसा, चोरी, ठगी, लालच, अश्लीलता, अनीति, अत्याचार, भ्रष्टाचार, अमर्यादित, अनुशासन हीनता से सहित, स्व-पर अहितकारी है ऐसे सब भाव अशुभ हैं। ऐसे भाव व्यक्तिगत स्वार्थ से या राजनैतिक दृष्टि से अथवा धार्मिक कट्टरता से भी संभव है। इसकी अन्तरङ्ग पहचान है - मन में तनाव, अशांति, संक्लेश, लडाई-झगडा, दु:श्चिंता, विक्षोभ, ग्लानि आदि।

2) शुभ भाव :- उपर्युक्त अशुभ भाव से विपरीत सत्यनिष्ठ, उदार, सरल, सहज, अहिंसा, अचौर्य, सादा जीवन उच्च विचार, क्षमा, विनम्रता, शालीनता, आत्मानुशासित, मर्यादित, शील, सदाचार, स्व-पर हितकर भाव आदि शुभ भाव हैं। इसकी पहचान है। मानसिक शांति, हलकापन, उद्वेग रहितता, निर्द्वन्द्व, मानसिक व्यापकता, आह्लाद, प्रसन्नता आदि। ऐसे भाव से सम्पन्न व्यक्ति प्रत्येक प्राणी के प्रति मित्रता, गुणीजनों में प्रमोद/अनुराग/भक्ति, संकट (रोगी, गरीब, असहाय) से युक्त जीवों के प्रति कृपा/दया/सेवा/सहयोग से सहित तथा दुष्ट, क्रूर विपरीत भाव से युक्त व्यक्ति के प्रति समता भाव/माध्यस्थ भाव रखेगा।

3) शुद्ध भाव :- समस्त दूषित (अशुभ) एवं शुभ भाव से रहित आत्मा के शुद्ध स्वाभाविक भाव को शुद्ध भाव कहते हैं। इस भाव में समस्त संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष, आकर्षण-विकर्षण से रहित निर्विकल्प, पवित्र, स्थिर, आध्यात्मिक अनन्त ज्ञान, आनन्द, वीर्य से युक्त भाव शुद्ध भाव हैं। समस्त अशुभ भाव के त्याग से शुभ भाव के माध्यम/साधना/आचरण से धीरे धीरे शुद्ध भाव प्रकट होता है। यह भाव ही आत्मिक, ईश्वरीय, पवित्र भाव है। इसकी पहचान है -आत्मिक अनन्त, अक्षय सुख, शांति, ज्ञान, वीर्य, लीनता/स्थिरता आदि।

भाव कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि से भी श्रेष्ठ -

उपर्युक्त कारणों से ही भाव को कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिंतामणि, तप्तवैतरणी कहा गया है। शास्त्रों में वर्णन पाया जाता है कि कल्पना करने से कल्पवृक्ष इच्छित फल देता है, कामना करने से कामधेनु काम्य फल देती है तो चिंतामणि चिंतित फल देती है तथा नरक में पापी को तप्त वैतरणी नदी का दु:ख प्राप्त होता है। इस संदर्भ में शास्त्रों में यह वर्णन पाया जाता है कि यह सब पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप के कारण संभव होता है और पुण्य-पाप यथाक्रम से शुभ-अशुभ भाव से जायमान होता है। शुभ भाव शांत होने से उसका फल भी शांति प्रदायी होता है तथा अशुभ भाव संक्लेश/उत्तप्त होने से उसका फल भी दु:खदायी/तप्त होता है। शुद्ध भाव पूर्ण पवित्र होने से उसका फल अनन्तज्ञान, सुखमय होता है। भाव कल्पवृक्षादि से भी श्रेष्ठ है क्योंकि पुण्यवान् को ही वे फल देते हैं और पुण्य शुभ भाव से होता है। पुण्य के बिना वे कल्पवृक्षादि फल देते नहीं है। कहा भी है -

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते // 22 आत्मानु.

कल्पवृक्ष का फल संकल्प (प्रार्थना) के अनुसार प्राप्त होता है तथा चिंतामणि का भी फल चिंता (मनकृत विचार) के अनुसार प्राप्त होता है, परंतु धर्म से जो फल प्राप्त होता है वह अप्रार्थित एवं अचिन्तनीय ही प्राप्त होता है। लोक में कल्पवृक्ष और चिंतामणी अभीष्ट फल के देने वाले माने जाते हैं, परंतु कल्पवृक्ष जहाँ वचन द्वारा की गई प्रार्थना के द्वारा अभीष्ट फल देता है वहाँ चिंतामणि मन की कल्पना के अनुसार वह फल देता है, किंतु धर्म एक ऐसा अपूर्व पदार्थ है कि जिससे अभीष्ट फल प्राप्ति के लिए न किसी प्रकार की याचना करनी पडती है और न मन में कल्पना। तात्पर्य यह है कि धर्म का आचरण करने से प्राणी को स्वयमेव ही अभीष्ट सुख प्राप्त होता है। जैसे - यदि मनुष्य सघन वृक्ष के नीचे पहुँचता है तो उसे उसकी छाया स्वयमेव प्राप्त हो जाती है, उसके लिए वृक्ष से कुछ याचना आदि नहीं करनी पडती है। विद्वान् मनुष्य निश्चय से आत्म परिणाम को ही पुण्य और पाप का कारण बतलाते हैं। इसलिए अपने निर्मल परिणाम के द्वारा पूर्व संचित पाप की निर्जरा, नवीन पाप का निरोध और पुण्य का उपार्जन करना चाहिए। **''शुभ पुण्यस्याशुभ पापस्य''** इस सूत्र में आचार्य प्रवर श्री उमास्वामी जी गुरुदेव ने यह बताया है कि शुभ योग पुण्य तथा अशुभ योग पाप आस्रव के कारण है। यहाँ शुभ परिणाम से उत्पन्न मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को शुभ योग तथा अशुभ परिणाम से उत्पन्न मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को अशुभ योग समझना चाहिए।

परिणाममेव कारणमाहु: खलु पुण्यपापयो: प्राज्ञ:।
तस्मात् पापप्रचय: पुण्योपचयश्च सुविधेय:॥

इस प्रकार जब पुण्य का कारण अपना ही शुभ परिणाम तथा पाप का कारण भी अपना ही अशुभ परिणाम ठहरता है तब आत्महित की अभिलाषा करने वाले भव्य जीवों को अपने परिणाम सदा निर्मल रखने चाहिए, जिससे की उनके पुण्य का संचय और पूर्व संचित पाप का विनाश होता रहे।?

भावों का वचन, व्यवहार, भोजन पर प्रभाव

जैसा कि विद्युत् चालित विभिन्न यंत्रों के आकार-प्रकार भिन्न-भिन्न होने पर भी उसे परिचालित करने वाली शक्ति एक ही विद्युत् है उसी प्रकार भाव रूपी शक्ति ही जीवों के वचन, व्यवहार, भोजन आदि को परिचालित/प्रभावित/नियंत्रित करती है।

1) भाव के अनुसार भोजन – लोग कहते हैं कि 'यह भोजन मुझे अच्छा नहीं लगता है।' इससे सिद्ध होता है कि जिस तरह हमारा मन होता है, उसी तरह का हम अन्न (भोजन) ग्रहण करते हैं। प्रसिद्ध लोकोक्ति है - ''जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन'' (As you eat so you become) अर्थात् जैसा आहार वैसा विचार, परंतु सूक्ष्म अतींद्रिय मनोविज्ञान तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखने पर उपर्युक्त नीति से विपरीत **''जैसा विचार होता है वैसा आहार होता है''**। इसलिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से **''जैसा होवे मन वैसा खावे अन्न''** अर्थात् (As you think so you eat) मैंने जो यह मेरा शोध पूर्ण विषय प्रस्तुत किया है इसके समर्थन में मैं गीता में प्रतिपादित विषय को यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ 3 गीता पृ 151

हे भारत ! सबकी श्रद्धा अपने स्वभाव का अनुसरण करती है। मनुष्य में कुछ न कुछ श्रद्धा तो होती ही है। जैसे जिसकी श्रद्धा वैसा वह होता है।

आयुः सत्वबलारोग्य- सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥ 8

आयुष्य, सात्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढाने वाले रसदार, चिकने, पौष्टिक और मन को रुचिकर आहार सात्विक लोगों को प्रिय होते हैं।

कट्वम्लवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षाविदाहिनः ।
आहरा राजस्येष्टा दुःख शोकामयप्रदाः ॥ 9 पृ. 152

तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, चरपरे, रुखे, दाहकारक आहार राजस लोगों को प्रिय होते हैं और वे दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करने वाले होते हैं।

यातायामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ 10

प्रहर भर से पडा हुआ नीरस, दुर्गन्धित, बासी, झूँठा, अपवित्र भोजन तामस लोगों को प्रिय होता हैं। यथा - मांस, मद्य, तम्बाखू, अफीम, गांजा, हेरोईन आदि। इससे मन-धन-तन, स्वास्थ्य, परिवार, सम्मान आदि की बरबादी होने पर भी तामस भाव के वश से उसे यह सब सेवन करना पडता है।

न्याय से उपार्जित धन से प्राप्त भोजन ही सात्विक भोजन हो सकता है जो कि शुद्ध, प्रासुक शाकाहार या दुग्धाहार हो। जैसे दूध, घी, फल, भात, रोटी, दाल, सूखामेवा, फलरस आदि। यह भोजन भी तब तक सात्विक रहेगा जब तक यह भोजन ताजा, सुगंध युक्त, चक्षु के लिए प्रिय वर्ण, सुस्वाद युक्त, स्निग्ध, मन को प्रिय लगने वाला होगा। यदि यही भोजन जब बासी हेा जाता है, दुर्गंध आने लगती है, विवर्ण हो जाता है तब भोजन तामस या अभक्ष हो जाता है। जिह्वा लोलुपता से परिपूर्ण चरपरा, चटपटा, मसालेदार, गरममसाला से युक्त भोजन राजसी भोजन है। ऐसे भोजन से क्रोध बढता है, शरीर की उष्णता बढती है, तन-मन उत्तेजना से युक्त हो जाते हैं, जिह्वा की लालसा बढती है, कामोत्तेजना बढती है एवं शारीरिक, मानसिक रोग भी हो जाते हैं। बासी भोजन, अमर्यादित खट्टा - मठ्ठा एवं दही, बासी रोटी, अमर्यादित आचार, पापड, मुरब्बा, मिठाईयाँ, मांस, मछली, अण्डा, मद्य, तम्बाखू, बीडी, सिगरेट, पानपराग, चुटकी, रजनीगन्धा, पान मसाला, टेस्टी, तुलसी, जर्दा आदि तामसिक भोजन हैं। इससे मन तम (अज्ञान रूपी अंधकार) से युक्त हो जाता है। इससे विवेक नष्ट हो जाता है, मन भ्रमित हो जाता है, अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोग भी हो जाते हैं।

द्रव्यतः शुद्धमाप्यन्नं भावाशुद्ध्या प्रदुष्यते ।
भावो ह्यशुद्ध बन्धाय शुद्धो मोक्षाय निश्चितः ॥ 97 धर्मामृत,

द्रव्य से शुद्ध भोजन भी भाव के अशुद्ध होने से अशुद्ध हो जाता है, क्योंकि अशुद्ध भाव बंध के लिए और शुद्ध भाव मोक्ष के लिए होते हैं यह निश्चित है।

2) भाव के अनुसार व्यवहार

अन्तरङ्ग में जिस प्रकार जैसा विचार रहता है बहिरङ्ग में भी प्रायः उसी प्रकार के आचार होते हैं। इसलिए तो प्राचीन एवं आधुनिक मनोवैज्ञानिक लोग जीव की विभिन्न बाह्य क्रियाओं से उसकी अन्तरङ्ग की विभिन्न क्रिया को जान लेते हैं। प्राचीन मनोविज्ञान में कहा भी है -

आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्र-वक्त्र विकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥

1) जीव के आकर 2) ईङ्गित (इशारा) 3) गमन 4) चेष्टा (क्रिया कलाप) 5)

संभाषण 6) नेत्र विकार 7) मुख मंडल विकार के अन्तर्गत मन परिलक्षित होता है। जिस प्रकार अन्तर्मन में मानसिक विचारधारा संचालित होती है उससे वचन, कार्य, अङ्गोपाङ्ग आदि प्रचलित होते हैं। अत: जीवों की बाह्य गतिविधि भी कुछ हद तक अन्त:करण की गतिविधि की परिछाया स्वरूप है। इतना ही नहीं भाव के अनुसार ही हमारा लक्ष्य, हमारा उद्देश्य बनता है। एक निश्चित् आकार एवं कलर के वस्त्र के प्रति हमारी रुझान (रुचि) होती है जो एक निश्चित् रङ्ग भाता है एवं भोजन के प्रति हमारा रुझान होता है। जो महान् व्यक्तित्व के धनी होते हैं उनके जीवन का सिद्धान्त "Simple liveing and high thinking" अर्थात् "**सादा जीवन उच्च विचार**" होता है। महान् कुटनीतिज्ञ चाणक्य ने भी कहा है -

काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मुर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥

बुद्धिमानों का समय काव्य, शास्त्र के अध्ययन में, सुख, शांति से व्यतीत होता है परंतु मुर्खों का समय व्यसन, निद्रा और कलह में व्यतीत होता है।

3) भाव के अनुसार वचन एवं व्यवहार -

फलों से लदे हुए वृक्ष को देखकर कृष्ण लेश्या (अशुद्धतम भाव) वाला विचार करता है इस वृक्ष को जड मूल से उखाडकर फल खाने चाहिए। नील लेश्या (अशुद्धतर भाव) वाला विचार करता है कि इस वृक्ष के स्कंध (तने) को काटकर फल खाने चाहिए। कापोत लेश्या (अशुद्ध भावा) वाला विचार करता है कि इस वृक्ष की शाखाओं को काटकर फल खाने चाहिए। तेजो लेश्या (शुद्ध भाव) वाला विचार करता है कि इस वृक्ष की उपशाखाओं को काटकर फल खाने चाहिए। पद्म लेश्या (शुद्धतर भाव) वाला विचार करता है कि इस वृक्ष के केवल फल तोडकर खाने चाहिए। शुक्ललेश्या (शुद्धतम भाव) वाला विचार करता है कि इस वृक्ष के पककर नीचे गिरे हुए फल खाने चाहिए। इन भावों के अनुसार वे वचन भी कहते हैं। उन के मानसिक विचारों तथा वचनों से लेश्या के तारतम्य का ज्ञान हो जाता है।

1) ***कृष्ण लेश्या*** से संयुक्त जीव तीव्र क्रोधी, वैर को न छोडने वाला, गाली देने रूप स्वभाव से युक्त, दया धर्म से रहित, दुष्ट और वश में नहीं आने वाला, यह कृष्ण लेश्या का लक्षण है।

कृष्ण लेश्या का कर्म - कृष्ण लेश्या से परिणत जीव निर्दय, झगडालु, रौद्र, वैर की परम्परा से संयुक्त चोर, असत्यभाषी, परदारा का अभिलाषी, मधु, मांस व मद्य में आसक्त, जिन शासन के श्रवण में कान न देने वाला और असंयम में मेरु के समान स्थिर स्वभाव

वाला होता है।

2) ***नील लेश्या*** से संयुक्त जीव कार्य करने में मंद और बुद्धि विहीन, विवेक से रहित, विषय लोलुपता, अभिमानी, मायाचारी, आलसी,अभेद्य, निद्रा व धोखा देने से अधिक, धन-धान्य में तीव्र लालसा, ये नील लेश्या का लक्षण है।

3) ***कापोत लेश्या*** से संयुक्त जीव रुष्ट होना, निन्दा करना, अन्य को बहुत प्रकार से दोष लगाना, प्रचुर शोक व भय से संयुक्त होना, ईर्ष्या करना, पर का तिरस्कार करना, अपनी अनेक प्रकार की प्रशंसा करना, दूसरों को भी अपने समान समझकर उनका कभी विश्वास नहीं करना, अपनी प्रशंसा करने वाले से संतुष्ट होना, हानि-लाभ को नहीं जानना, युद्ध में मरने की प्रार्थना करना, स्तुति करने वालों को बहुत सा पारितोषिक देना, कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से हीन होना ये सब कापोत लेश्या के लक्षण है।

4) ***तेजो लेश्या*** से संयुक्त जीव कर्तव्य-अकर्तव्य तथा, सेव्य-असेव्य का जानकार, समस्त जीवों को समान समझने वाला, दया दान में लवलीन और सरल स्वभावी है।

तेजो लेश्या वाला जीव अहिंसक, मधु-मांस व मद्य का असेवी, सत्य बुद्धि तथा चोरी, परदारा का त्यागी होता है। अथवा अपने कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य को समझने वाला हो, सबके विषय में समदर्शी हो, दया और दान में तत्पर हो, कोमल परिणामी हो, ये सब पीत लेश्या के कर्म अथवा चिन्ह है।

5) ***पद्म लेश्या*** में परिणत जीव त्यागी, भद्र, चोक्खा, ऋजुकर्मा, भारी अपराध को भी क्षमा करने वाला तथा साधु पूजा और गुरु पूजा में तत्पर रहता है,दान देने वाला हो, भद्र परिणामी हो, जिसका उत्तम कार्य करने का स्वभाव हो, इष्ट तथा अनिष्ट उपद्रवों को सहन करने वाला हो, मुनि-गुरु आदि की पूजा में प्रीति युक्त हो यह सब पद्म लेश्या वालों के चिन्ह अथवा कर्म है।

6) ***शुक्ल लेश्या*** के होने पर जीव न पक्षपात करता है और न निदान करता है वह सब जीवों में समान रहकर राग-द्वेष और स्नेह से रहित होता है।

पक्षपात न करना, निदान को न बांधना, सब जीवों में समदर्शी होना, इष्ट से राग तथा अनिष्ट से द्वेष नहीं करना, स्त्री-पुत्र, मित्र आदि में स्नेह रहित होना ये सब शुक्ल लेश्या वालों के कर्म तथा चिन्ह है।

स्वाभिमान से विकास तो दुराभिमान से विनाश

अंगुर, गुड आदि से पोषक तत्त्व प्राप्त होता है परंतु इसे ही जब सडाकर मद्य बनाकर सेवन करते हैं तब उससे नशा चढता है, बुद्धि भ्रष्ट होती है, अयोग्य वचन प्रयोग करते हैं, अनैतिक कार्य करते हैं। इतना ही नहीं इससे विभिन्न शारीरिक, मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, झगडा-कलह होते हैं तथा व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज में अनेक विषमताएँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार स्वाभिमान एवं दुराभिमान के बारे में इस शोध पूर्ण लेख में धार्मिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करेंगे। संक्षिप्तत: स्वाभिमान अंगुर के समान पोषक तत्व युक्त है तो दुराभिमान मद्य के समान हानि कारक तत्त्व से युक्त है।

स्वाभिमान को आत्मगौरव भी कहते हैं तथा दुराभिमान को अहंकार, मद, घमंड भी कहते हैं। स्वाभिमान (स्व+अभि+मान) अर्थात् (स्व=आत्म)+(अभि=समन्तात्/समग्रतासे)+(मान=मापना/मूल्यांकन) करना है। स्वाभिमान का भावार्थ यह है कि स्वयं के आध्यात्मिक, नैतिक गुणों तथा कर्तव्यों का यथार्थ परिज्ञान, संरक्षण, संवर्द्धन करना है। स्वाभिमान से विपरीत गुण, धर्म, व्यवहार दुराभिमान में है। दुराभिमान = (दुर्+अभि+मान) अर्थात् समग्रता से मूल्यांकन तथा आचरण से दूर होना हैं। इसका भावार्थ यह है कि आध्यात्मिक, नैतिक गुणों तथा कर्तव्यों का यथार्थ परिज्ञान, संरक्षण, संवर्द्धन नहीं करना अपरंच दुर्गुणों का ग्रहण, संरक्षण, संवर्द्धन करना है। स्वाभिमान से आत्मा की गुणवत्ता श्रेष्ठता, ज्येष्ठता पवित्रता की वृद्धि होती है। इसलिए स्वाभिमान को आत्मगौरव (आत्म+गौरव)कहते हैं दुराभिमान से आत्मा की गुणवत्ता आदि घटती है इसलिए इसे मद कहते हैं। क्योंकि मद्य सेवन से जिस प्रकार शारीरिक, मानसिक आदि की शक्ति घटती है, उसी प्रकार मद से भी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि की शक्ति घटती है, समाज में प्रतिष्ठा घटती है, अतएव स्वाभिमानी व्यक्ति अपनी गरिमा की रक्षा के लिए मनसा, वचसा, कर्मणा कृत-कारित-अनुमोदना से कुकृत्य नहीं करता है किन्तु मद (दुराभिमानी) से मदमस्त-व्यक्ति कुकृत्य करके स्वाभिमान को हानि पहुँचाता है जिसे उसकी स्वाभिमान की रक्षा ही नहीं हो पाती है और वह दीन-हीन उपेक्षित बन जाता है।

मनोविज्ञान के अनुसार अहम् भावना (अहमग्रन्थि) तथा हीनभावना (दीनता ग्रंथि) दोनों मानसिक रोग हैं। दोनों रोगों से ग्रसित व्यक्ति विक्षिप्त हो जाता है। इसलिए सर्वांगीण विकास के लिए दोनों ग्रंथि से रहित होकर समता पूर्ण स्वाभिमानी बनना चाहिए। इसके साथ-साथ अभिमान (दुराभिमान), संकिर्णता, क्षुद्रता के कारण वह

उदारता, महानता को जान नहीं पाता है जिसके कारण उसे स्वीकार नहीं कर पाता है; जिससे उसका सर्वांगीण विकास रुक जाता है। इससे विपरीत स्वाभिमानी व्यक्ति अपने महानता को जानता है, मानता है, स्वीकारता है; जिसके कारण उसका विकास सर्वांगीण रूपों से होता है। स्वाभिमानी व्यक्ति का भाव व कर्त्तव्य निम्न प्रकार है -

कर्तव्यमेव कर्त्तव्यं प्राणं कंठगतैऽपिसन् ।
अकर्तव्यनैव कर्त्तव्यं प्राणं कंठगतैऽपिसन् ।।

अर्थात् स्व-नैतिक कर्त्तव्य को अवश्य करना चाहिए भले प्राण क्यों न निकल जाए। अकर्त्तव्य नहीं करना चाहिए, भले ही प्राण क्यों न चले जाए।

रहिमन पानी राखिए बिन पानी सब सून।
पानी गए न उबरे मोती मानस चून॥
जिनको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर पशु निरा और मृतक समान है ।।

प्राचीन आचार्यों ने भी स्वाभिमान एवं दुराभिमान का वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

होदि कसाउम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो ।
ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पावं इदरो जधुम्मत्तो ॥ 1325 भा.आ.पृ.सं. 652

जो कषाय से उन्मत्त (पागल) है वही उन्मत्त है। जो पित्त से उन्मत्त है वही उन्मत्त नहीं है। इससे पित्त के द्वारा हुए उन्माद से कषाय के द्वारा हुए उन्माद को निकृष्ट बतलाया है। क्योंकि कषाय से उन्मत्त पुरुष जैसा पाप करता है पित्त से उन्मत्त वैसा पाप नहीं करता। एक-एक भी क्रोधादि कषाय हिंसा आदि में प्रवृत्त करता है। कर्मों के स्थिति बंध को बढाता है। किंतु पित्त से हुआ उन्माद केवल विवेक मूलक ज्ञान का ही तिरस्कार करता है। इसलिए इन दोनों में बहुत अंतर है।

इंदियकषायमइओ णरं पिसायं करंति हु पिसाया।
पावकरणवेलंबं पेच्छणयकरं सुयणमज्झे ॥ 1326

इंद्रिय और कषाय मय पिशाच मनुष्य को सुजनों के मध्य में देखने योग्य पाप क्रिया की विडम्बनाओं को करने वाला पिशाच बना देता है।

कुलजस्स जसमिच्छत्तगस्स णिधणं वरं खु पुरिसस्स।
ण य दिक्खिदेण इंदियकसाय वसिएण जेदुंजे ॥ 1327

कुलिन और यश के अभिलाषी पुरुष का मरना श्रेष्ठ है किंतु दीक्षित होकर

इंद्रिय और कषाय के वश में रहकर जीना श्रेष्ठ नहीं है।

जहा सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो रधी पलायंतो ।
णिंदिज्जहि तध इंदियकसायवसिगो वि पवज्जिवो ॥ 1328

जैसे धनुष बाण लेकर युद्ध के लिए तैयार रथारोही यदि युद्ध से भागता है तो निन्दा का पात्र होता है। उसी प्रकार दीक्षित साधु यदि इंद्रिय और कषाय के वश में होता है तो निन्दा का पात्र होता है।

जहा भिक्खं हिडंतो मउडादि अलंकिदो गहिवसत्थो ।
णिंदिज्जइ तध इंदिसकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥ 1329

जैसे मुकुट आदि से सुशोभित और हाथ में शस्त्र लिए हुए कोई भिक्षा के लिए घुमता है तो निन्दा का पात्र होता है। वैसे ही दीक्षित होकर इंद्रिय और कषाय के वश में होने वाला भी निन्दा का पात्र होता है।

कुलरुवाणाबलसुवलाभस्सरयत्थमवितवादीहिं ।
अप्पाणमुण्णमंतो नीचागोवं कुणदि कम्मं ॥ 1369

कुल, रूप, आज्ञा, बल, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, तप तथा अन्य बातों में अपने को बडा मानने वाला, उनका अहंकार करने वाला नीच गोत्र नामक कर्म का बंध करता है।

दट्ठूण अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विंति माणकलिं ।
दट्ठूण अप्पणादो अधिए माणं णयंति बुधा ॥ 1370

अपने से हीन व्यक्ति को देखकर मूर्ख लोग मान करते हैं। किंतु विद्वान् अपने से बडों को देखकर मान दूर करते हैं।

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभय वेर दुक्खाणि ।
पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥ 1371

मानी से सब द्वेष करते हैं। वह कलह, भय, वैर और दुःख का पात्र होता है तथा इस लोक और परलोक में नियम से अपमान का पात्र होता है।

सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादव्वा ।
माणेण चेव मेधुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥ 1372

पहले जो क्रोध के दोष कहे हैं वे सब दोष मान कषाय के भी जानना। मान से मनुष्य, हिंसा, असत्य बोलना, चोरी और मैथुन में प्रवृत्ति करता है।

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥ 1373

मान रहित व्यक्ति जगत् में स्व-जन और पर-जन सदा सबका प्रिय होता है वह ज्ञान, यश और धन प्राप्त करता है तथा अन्य भी अपने कार्यों को सिद्ध करता है।

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि ।
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाणं ॥ 1374

मार्दव युक्त व्यवहार करने पर कोई धन हानि नहीं होती जिससे धन हानि के भय से मनुष्य मान करे। विनय से इस जन्म में और जन्मान्तर में सर्व कल्याण प्राप्त होते हैं।

सहिं सहस्सीओ पुत्ता सगरस्स रायसीहस्स ।
अदिबलवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥ 1375

सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र महाबलशाली होते हुए भी मान दोष के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए।

स्वाभिमान/आत्मगौरव/गुणानुराग/गुणसुरक्षा को भगवती आराधना में प्रकारान्तर से शुद्ध प्रयोग भी कहा है। स्व-स्व गुण, धर्म, कर्तव्य की जानकारी, उसकी सुरक्षा और उसकी समृद्धि यथार्थ से स्वाभिमान है। यथा -

सुदुर्लभं मानुषजन्म लब्ध्वा मा क्लेशपात्राणि वृथैव भूत ।
धर्मे शुभे भूतहिते यतध्वमित्येवमाद्यैरपि चोपदेशैः ॥

'अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर वृथा ही क्लेश के पात्र मत बनो। प्राणियों के लिए कल्याणकारी धर्म में मन लगाओं' इत्यादि उपदेशों के द्वारा किए गये अथवा भविष्य में किए जाने वाले उपकार की अपेक्षा के बिना अनुकम्पा करना चाहिए।

पुण्यास्रवं सा त्रिविधानुकम्पा सुतेषु पुत्रं जननी शुभेव ।
श्वेतानुकम्पा प्रभवाद्विपुण्याद्गाके मृता अभ्युपपत्तिमीयुः ॥

ये तीनों प्रकार की अनुकम्पा पुण्य कर्म का आस्रव करती है। व जैसे माता पुत्र के लिए शुभ होती है उसी प्रकार शुभ है। उस अनुकम्पा से हुए पुण्य के विपाक से मरकर स्वर्ग में देव होते हैं।

जीवान्न हन्यां न मृषा वदेयं चौर्यं न कुर्यान्न भजेय भोगान् ।
धनं न सेवये न च क्षपासु भुञ्जीय कृच्छ्रेऽपि शरीरतापे ॥ 1
रोषेण मानेन च मायया च लोभेन चाहं बहुदोषकेन ।
युञ्जेय नारम्भपरिग्रहैश्च दीक्षां शुभामभ्युपगम्य भूयः ॥2
यथा न भायाच्चलमौलिमालो भिक्षां चरन्कार्मुकबाणपाणिः ।
तथा न भायां यदि दीक्षितः सन् वहेय दोषानवहाय लज्जाम् ॥3

लिङ्गं गृहित्वा महतामृषीणां, अङ्गं च बिभ्रत्परिकर्महीनम् ।
भङ्गं व्रतानामविचिन्त्य कष्टं सङ्गं कथं कामगुणेषु कुर्याम् ।।4
चर्यामनार्याचरितामधैर्यां धैर्येण हीनः कृपणत्वमेत्य ।
कथं वृथामुण्डशिराश्चरेयं लिङ्गीभवन्नङ्गविकारयुक्तः ।। 5
इत्येवमादिः शुभकर्मचिंता सिद्धार्हदाचार्यबहुश्रुतेषु ।
चैत्येषु संघे जिनशासने च भक्तिर्विरक्तिर्गुणरागिता च ।।6

शुद्ध प्रयोग

उसके दो भेद हैं - 1) यति संबंधि शुद्धसंप्रयोग 2) गृहस्थ संबंधि शुद्धसंप्रयोग

1) यति संबंधि शुद्धसंप्रयोग

मैं जीवों का घात नहीं करुंगा। झूठ नहीं बोलूंगा। चोरी नहीं करुंगा। भोगों को नहीं भोगूँगा। धन का सेवन नहीं करुंगा। शरीर में अत्यन्त कष्ट होने पर भी रात्रि को भोजन नहीं करुंगा। शुभ दीक्षा लेकर बहु दोष पूर्ण क्रोध, मान, माया, लोभ से आरंभ और परिग्रह से संबंध नहीं रखूंगा। जैसे कोई मनुष्य सिर पर मुकुट माला धारण करके और हाथ में धनुष बाण लेकर भिक्षा मांगे तो शोभा नहीं देता। उसी प्रकार यदि मैं दीक्षा लेकर लज्जा त्याग दोषों को वहन करुँ तो शोभा नहीं देता। महान् ऋषियों का लिंग स्वीकार कर के और स्नान आदि के बिना शरीर धारण करके व्रतों के भंग का विचार न करते हुए काम सेवन आदि का संसर्ग मैं कैसे कर सकता हूँ। मैं धैर्य खो, दीन बनकर अनार्यों के द्वारा आचरण करने योग्य चर्या कैसे कर सकता हूँ। शरीर में विकार युक्त होकर घूमने पर साधु होकर सिर मुंडाना व्यर्थ है। इत्यादि प्रकार से शुभ कार्य की चिंता करना, सिद्ध, अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय, प्रतिमा, संघ और जिनशासन में भक्ति, वैराग्य, गुणों में अनुराग, विनय युक्त प्रवृत्ति, संयम, अप्रमादीपना, परिणामों में कोमलता, क्षमा, आर्जव, संतोष, आहारादि संज्ञा, मिथ्यात्व आदि शल्य और ऋद्धि आदि के मद को जीतना, उपसर्ग और परीषह को जीतना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सरागसंयम, दस प्रकार का धर्मध्यान, जिन पूजा, जिनपूजा का उपदेश, नि:शंकितादि आठ गुण, प्रशस्तराग, तपोभावना, पांच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि शुद्धप्रयोग हैं।

2) गृहस्थों का शुद्धसंप्रयोग

ग्रहण किए हुए व्रतों के धारण और पालन की इच्छा, एक क्षण के लिए भी व्रत भंग को इष्ट न मानना, निरन्तर यतियों को दान देना, श्रद्धा आदि विधि पूर्वक अन्नादि देना, भोगों को भोग कर भी थकान दूर करने के लिए अपनी भोगासक्ति की

निन्दा, भाक्तिपूर्वक पंचपरमेष्ठि का स्तवन और प्रणाम करना, उनकी पूजा करना, दूसरों को धर्म में स्थिर करना, धर्म को बढाना, साधर्मीवात्सल्य, जिनेन्द्र देव के भक्तों का उपकार करना, जिनशास्त्रों का अभ्यास करना, जिनशासन की प्रभावना करना आदि श्रावकों का शुद्धसंप्रयोग है। अनुकम्पा और प्रयोग से विपरीत परिणाम अशुभ कर्म के आस्रव के द्वार हैं। (भगवती आराधना पृ. सं. 816)

शास्त्रों में वर्णन पाया जाता है कि जो विशिष्ट साधु होते हैं वे सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र बनते हैं। वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं, बालब्रह्मचारी होते हैं, संपूर्ण श्रुतज्ञान के ज्ञाता होते हैं, एक भवावतारी होते हैं, अन्य संपूर्ण देवों से अधिक शक्ति, वैभव, ऋद्धि, ज्ञान, लेश्या से श्रेष्ठ होने पर भी स्वाभिमान/आत्मगौरव से युक्त होते हैं। वे स्वयं को श्रेष्ठ मानते हुए भी दूसरों से ईर्ष्या-द्वेष न करते हैं न स्वयं को उनसे छोटा मानते हैं। वे सतत् आत्म चिंतन, तत्त्व चिंतन में लीन रहते हैं। इसी प्रकार जो स्वाभिमानी व्यक्ति, धर्मात्मा, साधु-संत हैं वे दूसरों से ईर्ष्या, द्वेष न करते हैं न स्वयं से दूसरों को बडा मानते हैं न छोटा मानते हैं। वे साम्य भाव में रहते हुए स्व गुणों का ज्ञान-भान-स्वाभिमान करते हैं और दूसरों के गुणों का भी सम्मान करते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से हमें यह शिक्षा मिलती है कि हमें अहंकार को त्यागकर के स्वाभिमानी बनकर विकास करते हुए दोनों विकल्पों से रहित ''सच्चिदानन्द '' ''सत्यंशिवंसुंदरम्'' विज्ञानघन स्वरूप ''शुद्धअहं'' (परमात्मा, परंब्रह्म) बनना है। शुद्ध परम निश्चय नय से यदि प्रत्येक जीव समान है तब तो कोई भी जीव न छोटा है, न बडा है । छोटा-बडा तो कर्म सापेक्ष है। अवस्था/भूमिका /व्यवस्था के अनुसार व्यवहार नय से छोटे-बडों के प्रति योग्य विनम्र, आदर, स्नेह का आचरण करना चाहिए परंतु दीनता, हीनता या घमण्ड, घृणा आदि भाव अनुचित है। दीनता से स्वगुणों का मूल्यांकन कम होता है तो अहंता से स्वगुणों का मूल्यांकन अयथार्थ रूप से बढा-चढाकर किया जाता है तो दूसरों के गुणों का मूल्यांकन अयथार्थ रूप से ह्रास करके किया जाता है । आध्यात्मिक दृष्टि से दुराभिमान अशुद्ध उपयोग है तो स्वाभिमान शुभ-उपयोग तथा ''शुद्ध अहं'' उपर्युक्त समस्त भाव एवं विकल्पों से रहित है। अत: स्वाभिमान से दुराभिमान को त्याग कर 'शुद्ध अहं' स्वरूप बनना विधेय है। इसके लिए उपाय है ''स्व-शुद्धात्मा के अनंत ज्ञान,दर्शन, सुख ,वीर्य, वैभव ,सत्ता, विभूति आदि का विश्वास ,विज्ञान, स्मरण, ध्यान, आचरण, स्व-आत्म वैभवादि के सामने संसार के मनुष्य ,राजा-महाराजा ,धन कुबेर ,चक्रवर्ती, देव, देवेंद्र के वैभवादि भी तुच्छ नश्वर है तो वर्तमान की कर्मज-अवस्थाजनित स्व-पर के वैभवादि का क्या महत्त्व

है''इस प्रकार के ज्ञान-भान आचरण से ही समस्त ग्रन्थियाँ टूटती जाती है और अन्ततोगत्वा निर्ग्रन्थ, निर्द्वन्द्व, निर्मल, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त अवस्था प्राप्त होती है।

अहमिंद्र का सविस्तार वर्णन निम्नोक्त है -

मुनिमार्ग से च्युत न होने और कर्मों की विशाल निर्जरा होने की इच्छा करते हुए वज्रनाभि मुनिराज ने क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, निषद्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, अदर्शन, रोग, तृणस्पर्श, प्रज्ञा, अज्ञान, मल और सत्कार पुरस्कार ये बाईस परीषह सहन किये थे। बुद्धिमान, मदरहित और विद्वानों में श्रेष्ठ वज्रनाभि मुनि ने उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म धारण किये थे। वास्तव में ये ऊपर कहे हुए दश धर्म गणधरों को अत्यन्त इष्ट हैं। इनके सिवाय वे प्रति समय बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करते रहते थे जैसे कि संसार के सुख, आयु, बल और संपदायें सभी अनित्य हैं। तथा मृत्यु, बुढापा और जन्म का भय उपस्थित होने पर मनुष्यों को कुछ भी शरण नहीं है; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप विचित्र परिवर्तनों के कारण यह संसार अत्यन्त दुःखरूप है। ज्ञान, दर्शन स्वरूप को प्राप्त होने वाला आत्मा सदा अकेला रहता है। शरीर, धन, भाई और स्त्री वगैरह से यह आत्मा सदा पृथक् रहता है। इस शरीर के नव द्वारों से सदा मल झरता रहता है इसलिए यह अपवित्र है। इस जीव के पुण्य पाप रूप कर्मों का आस्रव होता रहता है। गुप्ति, समिति आदि कारणों से उन कर्मों का संवर होता है। तप से निर्जरा होती है। यह लोक चौदह राजू प्रमाण ऊँचा है। संसार रूपी समुद्र में रत्नत्रय की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है और दया रूपी धर्म से ही जीवों का कल्याण हो सकता है। इस प्रकार तत्त्वों का चिंतन करते हुए उन्होंने बारह भावनाओं को भाया। उस समय शुभ भावों को धारण करने वाले वे मुनिराज लेश्याओं की अतिशय विशुद्धि को धारण कर रहे थे। वे द्वितीय बार उपशम श्रेणी पर आरुढ हुए और पृथकत्त्ववितर्क नामक शुक्ल ध्यान को पूर्ण कर उत्कृष्ट समाधि को प्राप्त हुए। अन्त में उपशांतमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में प्राण छोडकर सर्वार्थसिद्धि पहुँचे और वहाँ अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुए। यह सर्वार्थसिद्धि नाम का विमान लोक के अन्त भाग से बारह योजन नीचा है। सबसे अग्रभाग में स्थित और सबसे उत्कृष्ट है।

इस प्रकार अकृत्रिम और श्रेष्ठ रचना से शोभायमान रहने वाले उस विमान में उपपाद शय्यापर वह देव क्षण-भर में पूर्ण शरीर को प्राप्त हो गया। दोष, धातु और मल के

स्पर्श से रहित , सुन्दर लक्षणों से युक्त तथा पूर्ण यौवनावस्थाको प्राप्त हुआ उसका शरीर क्षण-भर में ही प्रकट हो गया था। जिसकी शोभा कभी म्लान नहीं होती, जो स्वभाव से ही सुन्दर है और जो नेत्रों को आनन्द देने वाला है ऐसा उसका शरीर सुशोभित होता था मानो अमृत के द्वारा ही बनाया गया हो। इस संसार में जो शुभ सुगंधित और चिकने परमाणु थे, पुण्योदय के कारण उन्हीं परमाणुओं से उसके शरीर की रचना हुई थी। पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद उपपाद शय्या पर अपने ही शरीर की कांति रूपी चांदनी से घिरा हुआ वह अहमिन्द्र ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि आकाश में चांदनी से घिरा हुआ पूर्ण चंद्रमा सुशोभित होता है। उस उपपाद शय्या पर बैठा हुआ वह दिव्यहंस (अहमिन्द्र) क्षण-भर तक ऐसा शोभायमान रहा जैसा कि गङ्गा नदी के बालु के टीले पर अकेला बैठा हुआ तरुण हंस शोभायमान होता है। उत्पन्न होने के बाद वह अहमिन्द्र निकटवर्ती सिंहासन पर आरुढ हुआ था। उस समय वह ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि अत्यन्त श्रेष्ठ निषध पर्वत के मध्य पर आश्रित हुआ सूर्य शोभायमान होता है। वह अहमिन्द्र अपने पुण्य रूपी जल के द्वारा केवल अभिषिक्त ही नहीं हुआ था किंतु शारीरिक गुणों के समान अनेक अलङ्कारों के द्वारा अलङ्कृत भी हुआ था। उसने अपने वक्षःस्थल पर केवल फूलों की माला ही धारण नहीं की थी किंतु जीवन पर्यंत नष्ट नहीं होने वाली, साथ-साथ उत्पन्न हुई स्वर्ग की लक्ष्मी भी धारण की थी। स्नान और विलेपन के बिना ही जिसका शरीर सदा दैदीप्यमान रहता है और जो स्वयं साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र तथा आभूषणों से शोभायमान है ऐसा वह अहमिंद्र देवों के मस्तक पर (अग्रभाग में) ऐसा सुशोभित होता था मानो स्वर्गलोक का एक शिखामणि ही हो अथवा सूर्य ही हो क्योंकि शिखामणि अथवा सूर्य भी स्नान और विलेपन के बिना दैदीप्यमान रहता है और स्वभाव से ही अपनी प्रभा-द्वारा आकाश को भूषित करता रहता है।

अणिमा, महिमा आदि गुणों से प्रशंसनीय वैक्रियिक शरीर को धारण करने वाला वह अहमिंद्र जिनेंद्र देव की अकृत्रिम प्रतिमाओं की पूजा करता हुआ अपने ही क्षेत्र में विहार करता था। और इच्छा मात्र से प्राप्त हुए मनोहर गंध, अक्षतादि के द्वारा विधिपूर्वक पुण्य का बंध करने वाली श्री जिनदेव की पूजा करता था। वह अहमिंद्र पुण्यात्मा जीवों में सबसे प्रधान था इसलिए उसी सर्वार्थसिद्धि विमान में स्थित रहकर ही समस्त लोक के मध्य में वर्तमान जिन प्रतिमाओं की पूजा करता था। उस पुण्यात्मा अहमिंद्र ने अपने वचनों की प्रवृत्ति जिनप्रतिमाओं के स्तवन करने में लगाई थी, अपना मन उनके गुण-चिंतवन करने में लगाया था और अपना शरीर उन्हें नमस्कार करने में लगाया था।

धर्मगोष्ठिष्वनाहूतमिलितैः स्वसमृद्धिभिः ।
संभाषणादरोऽस्यासीदहमिन्द्रैः शुभंयुभिः ॥ 138

धर्मगोष्ठियों में बिना बुलाये सम्मिलित होने वाले, अपने ही समान ऋद्धियों को धारण करने वाले और शुभ भावों से युक्त अन्य अहमिंद्रों के साथ संभाषण करने में उसे बडा आदर होता था। अतिशय शोभा का धारक वह अहमिंद्र कभी तो अपने मन्दहास्य के किरण रूपी जल के पूरों से दिशारूपी दीवालों का प्रक्षालन करता हुआ अहमिंद्रों से तत्त्वचर्चा करता था और कभी अपने निवास स्थान के समीपवर्ती उपवन के सरोवर के किनारे की भूमि में राजहंस पक्षी के समान अपने इच्छानुसार विहार करता हुआ चिरकाल तक क्रीडा करता था। अहमिंद्रों का परक्षेत्र में विहार नहीं होता क्योंकि शुक्ल लेश्या के प्रभाव से अपने ही भोगों-द्वारा संतोष को प्राप्त होने वाले अहमिंद्रों को अपने निरुपद्रव सुखमय स्थान में जो उत्तम प्रीति होती है वह उन्हें अन्यत्र कही नहीं प्राप्त होती। यही कारण है कि उनकी परक्षेत्र में क्रीडा करने की इच्छा नहीं होती है।

अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो मत्तोऽस्तीत्यात्त कत्थनाः ।
अहमिन्द्राख्यया ख्यातिं गतास्ते हि सुरोत्तमाः ॥ 143

''मैं ही इंद्र हूँ, मेरे सिवाय अन्य कोई इंद्र नहीं है'' इस प्रकार वे अपनी निरन्तर प्रशंसा करते रहते हैं और इसलिए वे उत्तम देव अहमिंद्र नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं।

नासूया परनिन्दा वा नात्मश्लाघा न मत्सरः ।
केवलं सुखासद्भूता दीव्यन्ते ते प्रमोदिनः ॥ 144

उन अहमिंद्र के न तो परस्पर में असूया है, न परनिन्दा है, न आत्म प्रशंसा है और न ईर्ष्या ही है। वे केवल सुखमय होकर हर्षयुक्त होते हुए निरन्तर क्रीडा करते रहते हैं।

स एष परमानन्दं स्वसाद्भूतं समुद्वहन् ।
त्रयस्त्रिंशत्पयोराशिप्रमितायुर्महाद्युतिः ॥ 145

वह वज्रनाभि का जीव अहमिंद्र अपने आत्मा के अधीन उत्पन्न हुए उत्कृष्ट सुख को धारण करता था, तैंतीस सागर प्रमाण उसकी आयु थी और स्वयं अतिशय दैदीप्यमान था। वह समचतुरस्र संस्थान से अत्यन्त सुन्दर, एक हाथ ऊँचे और हंस के समान श्वेत शरीर को धारण करता था। वह साथ-साथ उत्पन्न हुए दिव्य वस्त्र, दिव्य माला और दिव्याभूषणों से विभूषित जिस मनोहर शरीर को धारण करता था वह ऐसा जान पडता था मानो सौन्दर्य का समूह ही हो। उस अहमिंद्र की वेशभूषा तथा विलास-चेष्टाएँ अत्यन्त प्रशान्त थी, ललित (मनोहर) थी, उदात्त (उत्कृष्ट) थी और धीर थी। इसके सिवाय वह स्वयं अपने शरीर की फैलती हुई प्रभारूपी क्षीरसागर में सदा निमग्न

रहता था। जिसने अपने चमकते हुए आभूषणों के प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रकाशित कर दिया था ऐसा वह अहमिंद्र ऐसा जान पडता था मानो एकरूपता को प्राप्त हुआ अतिशय प्रकाशमान तेज का समूह ही हो।

वह विशुद्ध लेश्या का धारक था और अपने शरीर की शुद्ध तथा प्रकाशमान किरणों से दशों दिशाओं को लिप्त करता था, इसलिए सदा सुखी रहने वाला वह अहमिंद्र ऐसा मालूम होता था मानो अमृत रस के द्वारा ही बनाया गया हो। इस प्रकार वह अहमिंद्र ऐसे उत्कृष्ट पद को प्राप्त हुआ जो इंद्रादि देवों के भी अगोचर है, परमानन्द देने वाला है और सबसे श्रेष्ठ है। वह अहमिंद्र तैंतीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर मानसिक दिव्य आहार ग्रहण करता हुआ धैर्य धारण करता था और सोलह महीने पंद्रह दिन व्यतीत होने पर श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था। इस प्रकार वह अहमिंद्र वहाँ (सर्वार्थसिद्धि में) सुखपूर्वक निवास करता था अपने अवधिज्ञानरूपी दीपक के द्वारा त्रसनाडी में रहने वाले जानने योग्य मूर्तिक द्रव्यों को उनकी पर्यायों सहित प्रकाशित करता हुआ वह अहमिंद्र अतिशय शोभायमान होता था उस अहमिंद्र के अपने अवधिज्ञान के क्षेत्र बराबर विक्रिया करने का भी सामर्थ्य था, परंतु वह राग रहित होने के कारण बिना प्रयोजन कभी विक्रिया नहीं करता था, उसका मुख कमल के समान था, नेत्र नील कमल के समान थे, गाल चन्द्रमा के तुल्य थे और अधर बिम्बफल की कान्ति को धारण करते थे। अभी तक जितना वर्णन किया है उससे भी अधिक सुन्दर और अतिशय चमकीला उसका शरीर ऐसा शोभायमान होता था मानो एक जगह इकट्ठा किया गया सौन्दर्य का सर्वस्व (सार) ही हो। छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के आहारक ऋद्धि से उत्पन्न होने वाला और आभूषणों के बिना ही दैदीप्यमान रहने वाला जो आहारक शरीर होता है ठीक उसके समान ही उस अहमिंद्र का शरीर दैदीप्यमान हो रहा था (विशेषता इतनी ही थी कि वह आभूषणों से प्रकाशमान था)। जिनेन्द्रदेव ने जिस एकान्त और शान्तरूप सुखका निरुपण किया है मालूम पडता है वह सभी सुख उस अहमिंद्र में जाकर इकट्ठा हुआ था।

जब जीव सम्यग्दृष्टि संपन्न होता है तब वह प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप के साथ-साथ स्वशुद्ध-आत्म स्वरूप का भी सम्यक् श्रद्धान एवं विज्ञान करता है। इसे ही ''तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शनम्'' कहते हैं। इतना ही नहीं वह स्व-स्वरूप का मनन, चिंतन, ध्यान, शुद्धदृष्टि से भगवान् रूप में करता है। यथा -

'सोहं' 'शुद्धोऽहम्' 'बुद्धोऽम्' 'परंब्रह्मोऽहम्'

मैं वही परम् तत्त्व हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं बुद्ध हूँ, मैं परमब्रह्म हूँ।

अहमेक्को खलु सुद्ध दंसणणाण सयारुवि ।
णावि अत्थि मझ किंचिवि अण्ण परमाणु मेंत्तवि ॥

निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञान से युक्त हूँ, अमूर्तिक स्वरूप हूँ, मेरे मध्य में अन्य परमाणु मात्र भी नहीं है। उपर्युक्त चिंतन, ध्यान में दुराभिमान नहीं है परंतु स्वआत्म का शुद्ध चिंतन है। इस चिंतन के कारण ही मानव धीरे-धीरे महामानव एवं भगवान् बन जाता है क्योंकि "As you think so you become" अर्थात् हम जैसा चिंतन करते हैं उसी प्रकार परिणमन करते हैं। यदि आत्मा का शुद्ध चिंतन नहीं किया जाये तो स्वाभाविक रूप में अशुद्ध चिंतन, विकृत चिंतन, घमण्ड पूर्ण चिंतन होगा और इस चिंतन से उसका परिणमन भी तदनुकूल विकृत परिणमन होगा इसीलिए विकृत परिणमन से बचने के लिए तथा शुभ एवं शुद्ध परिणमन करने के लिए शुभ, शुद्ध, विधेय पूर्ण चिंतन (Positive thinking) करना केवल आवश्यक ही नहीं है अनिवार्य भी है। मेरे कटुतम अनुभव में से एक अनुभव यह है कि भारत में सामान्य नागरिक से लेकर पढे-लिखे एवं साधु-संत तक में हीन भावना तथा अहं भावना एवं तदनुकूल प्रवृत्ति पाई जाती है परंतु समता पूर्ण स्वाभिमान की भावना एवं प्रवृत्ति कम पाई जाती है। दीनता को नम्रता एवं नम्रता को दीनता, दुराभिमान को स्वाभिमान एवं स्वाभिमान को दुराभिमान भ्रमवशत: मान लेते हैं एवं तदनुकूल आचरण करते हैं। दुराभिमान करने वाले भी स्वाभिमानी को दुराभिमानी मानते हैं। भारत में स्वाभिमान एवं आत्म-गौरव की कमी के कारण भारत की महानता, संस्कृति, श्रेष्ठता एवं ज्येष्ठता को स्वीकार नहीं कर पाते हैं और विदेशियों के एवं हीरो-हीरोइन का अन्धानुकरण करते रहते हैं। विदेश के लोग वैज्ञानिक अनुसंधान के कारण भारत की सभ्यता, संस्कृति को सत्य, उपादेय मानकर ग्रहण करते जा रहे हैं परंतु हीन भावना के कारण भारत के लोग भारत की ज्येष्ठता व श्रेष्ठता को स्वीकार करने से भयभीत है, शंकालु है, लज्जालु है। इन सब दुष्प्रवृत्तियों के रोकने के लिए स्वाभिमान को जगाना केवल आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। एतदर्थ यह लेख मैंने लिखा है। इसे पढकर गुणग्राही गुणग्रहण करके दुर्गुणों को त्याग करके श्रेष्ठ, ज्येष्ठ बनेगें इस महती शुभ भावना के साथ -

निन्दा रूपी नीम तथा प्रशंसारूपी मुलेठी से करें स्वास्थ्य लाभ

निन्दतु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।
लक्ष्मी: समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
न्याय्यात्पथ: प्रविचलन्ति पदं न धीरा: ॥4 भर्तृहरी नी. श.

नीति निपुण विद्वान् निंदा करें अथवा स्तुति, लक्ष्मी प्राप्त हो अथवा पास की भी चली जाये, आज ही मृत्यु हो अथवा एक युग बाद परंतु गंभीर पुरुष न्याय मार्ग से च्युत नहीं होते । अर्थात् सत्य, न्याय के पथिक निंदा तथा प्रशंसा से विचलित न होकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आगे बढते हैं। मार्ग में किसी वस्तु का प्रशंसात्मक विज्ञापन हो या विरोधात्मक विज्ञापन हो तब भी यात्री उस विज्ञापन से अटककर, भटककर, लटक नहीं जाता है उसी प्रकार सत्य, न्याय पथ के यात्री निंदा प्रशंसारूपी विज्ञापनों से अटकता नहीं है, भटकता नहीं है, लटकता नहीं है।

1) निंदारूपी कडवी औषधी से करे स्वास्थ्य लाभ :-

जैसा कि चर्मरोग, कृमिरोग, मलेरिया आदि रोग नीम, कुटकी-चिरायता आदि कडवी औषधी से दूर होते हैं वैसा ही हिताहित विवेकी व्यक्ति स्व निंदा सुनकर अपने दोषरूपी रोग दूर करते हैं। विवेकी स्व निंदा सुनकर आत्म परीक्षण करता है। यदि स्वयं में कोई दोष है तो उसे दूर करता है और वह सोचता है कि निंदक मेरा हितकारी है क्योंकि उसके द्वारा मेरे अहितकारी दोष मुझे ज्ञात हुए जिसे मैं दूर करके सुखी हुआ । यथा -

निन्दक नियरे राखिये आंगन कुटी छवाय ।
बिन पानी साबुन बिन निर्मल करे सुहाय ॥

स्वयं में दोष होने पर निंदक की निंदा नहीं करता है परंतु आत्म विश्लेषणात्मक स्व निंदा करता है। यथा-

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलया कोय ।
जो दिल खोजा अपना मुझसे बुरा न कोय ॥

यदि गुरु शिष्य के दोष बताते हैं तो शिष्य उसे अहोभाग्य, महान् उपकार, महान् उपलब्धि मानता है । वस्तुत: उपकारी गुरु द्वारा शिष्यों के दोष दूर करने के लिए दोषों को बताना निंदा है ही नहीं। खोटे भाव से दूसरों के विद्यमान या अविद्यमान दोषों को बताना निंदा है। उपकारी दयालू गुरु के तो हर वचन, व्यवहार, चिंतन अमृत चिंतन से भी श्रेष्ठ है।

सच्चे गुरु दयालु परोपकारी होने के कारण दूसरों को सच्चे मार्ग में चलने के लिए उपदेश एवं प्रेरणा देते हैं। शिष्य को कथंचित् कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग में चलने के लिए कठोर अनुशासन भी करते हैं। नीतिकारों ने कहा है-

गुरु कुंभार कुंभ शिष्य है गढ-गढ काढे खोट।
अन्दर हाथ पसार कर बाहर मारे चोट ॥

यथार्थ से जो गुरु शिष्य के सरसों प्रमाण दोष को सुमेरू समान बताकर शिष्य का दोष दूर करते हैं वही यथार्थ गुरू हैं। गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं -

दोषान् कांश्चन् तान् प्रवर्तकतया प्रच्छाद्यगच्छत्ययं।
साधंतैः सहसा म्रियेद्यदि गुरु पश्चात्करोत्येष किम् ॥
तस्मान्मे न गुरुर्गरुर्गुरुतरान् कृत्वालघुश्च स्फुटं।
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं स्खलः सद्गुरु ॥

यदि वह गुरु शिष्य के उन किन्हीं दोषों की प्रवृति कराने की इच्छा अथवा अज्ञानता से आच्छादित करके प्रकाशित न करके चलता है और इस बीच में यदि वह शिष्य उक्त दोषों के साथ मरण को प्राप्त हो जाता है तो फिर यह गुरू पीछे क्या कर सकता है कुछ भी उसका भला नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में वह शिष्य विचार करता है कि मेरे दोषों को आच्छादित करने वाला वह गुरू वास्तव में मेरा गुरु (हितैषी, आचार्य) नहीं है किन्तु जो दुष्ट मेरे क्षुद्र भी दोषों को निरंतर सूक्ष्मता से देख करके और उन्हें अतिशय महान् बता करके स्पष्टता से कहता है वह यह दुष्ट ही मेरा समीचीन गुरु है।

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशव।
रवेरिवारविन्दस्य कठोरश्च गुरुक्तयः ॥

कठोर भी गुरु के वचन भव्य जीव के मन को इसप्रकार से प्रफुल्लित (आनंदित) करते हैं जिसप्रकार कि सूर्य की कठोर (संतापजनक) भी किरणें कमल की कली को प्रफुल्लित किया करती हैं।

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा।
दुर्लभः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभा ॥

पूर्वकाल में जिस धर्म के आचरण से इसलोक और परलोक दोनों ही लोकों में हित होता है उस धर्म का व्याख्यान करने के लिए तथा उसे सुनने के लिए भी बहुत से जन सरलता से उपलब्ध होते थे परंतु तदनुकूल आचरण करने के लिए उस समय भी बहुत जन दुर्लभ ही थे किंतु वर्तमान में तो उत्तम धर्म का व्याख्यान करने के लिए और सुनने के लिए भी मनुष्य दुर्लभ हैं फिर उसका आचरण करने वाले तो दूर ही रहे।

'आत्मानुशासन में भी सहृदय, दूरगामी, परिणामज्ञ, गुरुओं की प्रशंसा निम्न प्रकार से की गयी है।

यद्यपि कदाचिस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किंचित्।
त्वं तस्मान्मा भैषीर्व्यातुरो भेषजादुग्रात् ॥3 (पृ.नं. 3)

यद्यपि इस (आत्मानुशासन) में प्रतिपादित किया जाने वाला कुछ सम्यग्दर्शनादि का उपदेश कदाचित् सुनने में अथवा आचरण के समय में थोडा सा कडुआ (दुःखदायक) प्रतीत हो सकता है, तो भी वह परिणाम में मधुर(हितकारक) ही होगा। इसलिए हे आत्मन्! जिसप्रकार रोगी तीक्ष्ण औषधी से नहीं डरता है उसीप्रकार तू भी उससे डरना नहीं।

दुर्जनों की निंदा से भी यदि कोई व्यक्ति क्रोधित, क्षुभित होता है तो वह पहले भले निंदा का पात्र नहीं था, परंतु अभी तो निंदा का पात्र बन ही गया क्रोधादि करके। इसका मतलब यह नहीं है कि निंदा सुनकर जडवत्, निर्लज्ज, ढीट के समान संवेदनहीन बने परंतु दोष दूर करने के लिए समता से संवेदनशील बनें किंतु स्वयं दोषी बनकर निंदा के पात्र मत बनो। निंदक के प्रति और भी दया का भाव रखना चाहिए कि वह निंदा करके पाप का अर्जन कर रहा है जिससे वह दुःखी होगा तथा निंदा का पात्र बन रहा है। वह ऐसा पाप कमाकर तथा निंदा का पात्र बनकर भी हमारे दोष बताकर हमारा उपकार कर रहा है।

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचर्गोत्रस्य। (25)

परनिंदा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का उच्छादन, असद्गुणों का उद्भावन ये नीच गोत्र के आस्रव हैं।

सच्चे या झूठे दोष को प्रकट करने की इच्छा निंदा है। गुणों को प्रकट करने का भाव प्रशंसा है। पर और आत्म शब्द के साथ इनका क्रम से संबंध होता है। यथा-पर निंदा और आत्म प्रशंसा रोकने वाले कारणों के रहने पर प्रकट नहीं करने की वृत्ति का होना उच्छादन है और रोकने वाले कारणों का अभाव होने पर प्रकट करने की वृत्ति का होना उद्भावन है। यहाँ भी क्रम से संबंध होता है। यथा- सद्गुणोच्छादन और असद्गुणोद्भावना इन सबको नीचगोत्र के आस्रव का कारण जानना चाहिए।

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य। (26)

उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिंदा, सद्गुणों का उद्भावन और असद्गुणों का उच्छादन तथा नम्रवृत्ति और अनुत्सैक ये उच्च गौत्र के आस्रव हैं।

जो गुणों में उत्कृष्ट हैं उनके प्रति विनय से नम्र रहना नीचैर्वृत्ति है। ज्ञानादि की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हुए भी उसका मद न करना अर्थात् अहंकार रहित होना अनुत्सैक है। ये उत्तर अर्थात् उच्चगोत्र के आस्रव के करण हैं ।

तीर्थेश गुरु सङ्घानामुच्चैः पञ्चयात्मनाम् ।
प्रत्यहं व नुतिं भक्तिं तन्वन्ति गुणकीर्तनम् ॥ 96
स्वस्य निंन्वां च येऽत्रार्या गुणिदोषोपगूहनम् ।
तेऽपुत्र त्रिजगद्वन्द्यं गोत्रंश्रयान्ति गोत्रतः ॥ 97

जो आयोजन तीर्थंकर सुगुरु, जिनसंघ और उच्चपदमयी पंचपरमेष्ठियों की प्रति दिन पूजा भक्ति करते हैं उनके गुणों का कीर्तन करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं, अपने दोषों की निंदा करते हैं और दूसरे गुणीजनों के दोषों का उपगूहन करते हैं, वे पुरुष उच्चगोत्र कर्म के परिपाक से परभव में त्रिजगद्वन्द्य उच्चगोत्र कर्म का आश्रय प्राप्त करते हैं अर्थात् तीर्थंकर होते हैं।

सती प्रशस्ता परावर्णवाद्पारुष्यादिदोषरहिता गीर्वाग्यस्यासौ ।
परापवादो हि बहुदोषः ।

वाणी परनिंदा, कठोरता,आदि दोषों से रहित होना चाहिए, परन्तु पर के अपवाद में बहुत दोष हैं ।

परपरिभवपरिवादादात्मोत्कर्षाच्च वध्यते कर्म ।
नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्योचम् ॥ (सा. धर्मा.)

दूसरे की निंदा और अपनी प्रशंसा से नीचगोत्र कर्म का ऐसा बंध होता है जो करोडों भवो में नहीं छूटता तथा उसके त्याग में अनेक गुण हैं ।

यदिच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा ।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥

यदि तू जगत् को एक ही कार्य के द्वारा वश में करना चाहता है तो अपनी वाणी रूपी गौ को परनिंदा रूपी धान्य को चरने से बचा।

एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम् ।
गतानुगतिको लोको न लोकः परमार्थिकः ॥(पञ्चतन्त्र/1/177)

किसी व्यक्ति के निंदनीय कर्म को देखकर दूसरा भी अंधाधुंध उसकी नकल करने लगता है। संसार अंधे के पीछे अंधे के चलने के समान कार्य करता जाता है । वह वास्तविक बात को समझने की चेष्टा नहीं करता।

जदिवा सवदि असंतेण परोत्तं णत्थि मेत्ति खमिदव्वं ।
अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वरावोत्ति ॥ भ.आरा. 1415

यदि दूसरा व्यक्ति मेरे में अविद्यमान दोषों को कहता है तो वह दोष मुझमें नहीं है अत: उसे क्षमा करना चाहिए क्योंकि असत् दोष को कहने से मेरी क्या हानि

हुई? अथवा निंदा करने वाले पर दया करना चाहिए-बेचारा झूठ बोलकर अनेक दु:ख देनेवाला पापभार एकत्र करता है। मेरे दोषों से उसमें दोष उत्पन्न नहीं होते और न मेरे गुणों से ही उसका कोई लाभ होता है। प्राणियों के अपने-अपने गुण दोष नियत हैं। उनसे होने वाला सुख- दु:ख भी उन्हें ही होता है अत: व्यर्थ ही कर्म बंध करता है ।

जदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदव्वं ।
सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीयं तेण भणिदत्ति ॥ 1416

यदि दूसरा मेरे में विद्यमान दोष को कहता है तब भी क्षमा करना चाहिए क्योंकि वह जिस दोष को कहता है वह मेरे में है। वह झूठ नहीं कहता । विद्यमान दोषों को दूसरें यदि न कहें तो वे नष्ट हो जाते हैं ऐसी बात भी नहीं है ऐसा विचार करना चाहिए ।

सत्तो वि ण चेव हवो हवो वि ण य मारिदोत्ति य खमेज्ज ।
मारिज्जंतो वि सहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥ (1417)

इसने मुझे अपशब्द ही कहे हैं मारा तो नहीं है, इस प्रकार उसके न मारने के गुण को चित्त में स्थापित करके 'अपशब्द कहने से मेरा क्या नष्ट हुआ' अत: क्षमा करना चाहिए । मारे तो भी सहन करना चाहिए कि इसने विपत्ति को जड से दूर करने में समर्थ और इष्ट सुख को देने वाले मेरे धर्म का नाश नहीं किया ।

जिस प्रकार जल की स्वाभाविक गति निम्न होती है उसी प्रकार सामान्य मनुष्य की प्रवृति निंदक, दोष पूर्ण, निम्न होती है। विध्वंसक कार्य जिस प्रकार सरलता से होता है परन्तु निर्माणात्मक कार्य कठिनता से होता है । उसी प्रकार विधिपरक चिंतन कार्य कठिनता से होता है परंतु निषेधपरख, विध्वंसात्मक, गलतकार्य सरलता से होता है । रूग्णता शीघ्रता से होती है परन्तु निरोगता धीरे-धीरे होती है । इसीप्रकार गुणों को स्वीकार करना, दोषों को दूर करना, दूसरों की प्रशंसा करना, गुणों की चर्चा करना कठिन कार्य है परन्तु दोषी बनना, दोषों को ग्रहण करना, दूसरों की निंदा करना, विद्यमान या अविद्यमान दोषों को ढूँढना, जताना, बताना सरल कार्य है। यह कार्य तो मानसिक संक्रामक छूआछूत रोग के बराबर है। जिस प्रकार महामारी शीघ्रता से फैलती है। ऐसी मानसिक महामारी शीघ्रता से फैलती है और अनेक लोगों को अपनी चपेट में ले लेती है । जो गुणी होते हुए भी दूसरों की निंदा करता है वह तत्काल निंदा का पात्र बन जाता है। क्योंकि दूसरों की निंदा करना निंदनीय है। नीतिकारों ने कहा है - ''गृद्धपृष्ठ मांसभक्षी खलु निंदक:'' अर्थात् जो दूसरों की निंदा करता है वह दूसरों की पीठ का मांस नोंच-नोंच कर खाने के बराबर है। और भी कहा है -

पक्षीणां काक चांडालः पशु चांडालः गर्दभः ।
नृराणां कोप चांडालः सर्व चांडालः निंदकः ॥

अर्थात् पक्षियों में कौआ चांडाल है क्योंकि कौआ शव पर बैठता है व शव को खाता है, शौच में बैठता है तो शौच खाता है, अच्छे भोजन पर बैठता है और अच्छे भोजन को खाता है, मंदिर के कलश पर बैठता है तथा वहाँ भी गंदा करता है। इसी प्रकार पशुओं में गधा चांडाल है, मनुष्यों में जो कोप करता है वह चांडाल है तथा चांडाल का महाचांडाल वह है जो दूसरों की निन्दा करता है।

2) प्रशंसा रूपी मुलेट्टी से करें स्वास्थ्य लाभ :-

अकीर्त्या तप्यते चेतश्चेतस्तापोऽशुभास्रवः ।
ततत्प्रसादाय सदा श्रेयसे कीर्तिमर्जयेत् ॥85 ॥ सागर धर्मामृत

यश न होने से मनुष्य के मन में संक्लेश रहता है और चित्त में संक्लेश रहने से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। इसलिए चित्त की प्रसन्नता के लिए जो कि पुण्य संचय का कारण है, सदा यश उपार्जन करना चाहिए।

मनुष्य चाहता है कि लोगों में - समाज में मेरा यश हो, लोग मेरे कार्यों की बढाई करें। यदि ऐसा नहीं होता है तो उसके मन में दुःख रहता है। दुःखरूप परिणामों से पाप कर्म का बंध होता है। अतः कल्याण के लिए पुण्य कर्म का उपार्जन आवश्यक है। और उसके लिए मन में प्रसन्नता रहना जरुरी है। इसलिए गृहस्थ को ऐसे भी काम करने चाहिए जिससे लोक में ख्याति हो।

परासाधारणान् गुण्य प्रगण्यानद्यमर्षणान् ।
गुणान् विस्तारयेन्नित्यं कीर्तिविस्तारणोद्यतः ॥86 ॥

अपना यश फैलाने में तत्पर गृहस्थ को दूसरों में न पाये जाने वाले, और गुणवानों के द्वारा अति माननीय तथा पापों का विनाश करनेवाले दान, सत्य, शौच, शील आदि गुणों को नित्य बढाना चाहिए।

इन्होंने कीर्ति फैलाने का उपाय सद्गुणों को फैलाना बतलाया है। यह कठिन है किन्तु यथार्थ में यश तो सद्गुणों के फैलाव से ही मिलता है। अन्याय से धन उपार्जन करके उससे यश कमाना लौकिक दृष्टि में भले ही उत्तम माना जाय। किंतु सद्गुणों के प्रकाशन में, योगदान से अपना और सबका कल्याण होता है।

उपर्युक्त वर्णन से, मनोविज्ञान से, कहने सुनने तथा अनुभव से ज्ञात होता है, प्रशंसनीय कार्य से प्रशंसा होने पर मन प्रसन्न होता है, अच्छे कार्य करने के लिए प्रोत्साहन, प्रेरणा, शक्ति उत्साह आदि मिलते हैं। इससे पाप कार्य नहीं होते हैं, पुण्य

कार्य होते हैं, जिससे पाप के संवर के साथ-साथ निर्जरा होती है, पुण्य संचय होता है। इतना ही नहीं हीन भावना, उदासीनता, अनुत्साह आदि दूर होते हैं। इससे प्रेरणा प्राप्त करके दूसरे भी प्रशंसा करते हैं और प्रशंसनीय कार्य भी करते हैं। क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक के साथ-साथ अनुकरणीय प्राणी है। मानसिक संक्रमण तीव्रता से होता है। जैसा कि हंसते हुए को देखने पर हंसी आती है तो रोते हुए को देखने से रोना आता है। इसलिए प्रशंसा मुलेट्ठी के समान मधुर होते हुए भी अनेक तन-मन-परिवार-समाज के अनेक रोगों को दूर करने वाली मधुर गुणकारी औषधि है।

आत्म विश्लेषक, गुणग्राही व्यक्ति स्व-गुणों की यथार्थ प्रशंसा सुनकर उन गुणों के परिज्ञान के साथ-साथ उन गुणों को बढाता है। प्रशंसक की गुणानुरागता, उदारता, कोमलता, वात्सल्यता, प्रमोदता के कारण उस के दीन भावना, अहं भावना, ईर्ष्या-द्वेष, वैरत्व, संकीर्णता, कठोरता, गुणद्वेष आदि दुर्गुण नष्ट होते हैं। इससे उसके पाप रुकते हैं, पुण्य का आगमन होता है। प्रशंसक की प्रशंसा भी प्रशंसनीय व्यक्ति ही करता है जिससे उपर्युक्त सुगुणों की भी उपलब्धि उसे होती है। जिस प्रकार कि एकसाथ रखे हुए एक खरबुजे के पकने पर उसकी खुशबु से दूसरे खरबुजे भी शीघ्र पक जाते हैं उसी प्रकार प्रशंसा का भी प्रभाव एक-दूसरे के ऊपर पडता है और वातावरण प्रशंसा रूपी सुगन्धी से महक उठता है।

दूसरों की निन्दा अथवा अपमान मात्र से कोई निन्दनीय अथवा मानहीन नहीं हो जाता है जब तक उसमें निन्दनीय दोष अथवा अपमान कर दुर्गुण नहीं होता है । स्वाभिमानी या प्रशंसनीय तो स्वगुणों से ही व्यक्ति होता है यथा-

जो अवमाणणकरणं दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो ।
सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण ॥

जो सदा मन लगाकर अपमान करने रूप दोष का (क्रोधादि,कषाय, हिंसा, पांच पाप) त्याग करता है अर्थात् किसी का अपमान नहीं करता वह मानी होता है। गुण रहित मान से मानी नहीं होता है । (भ.आरा.गा. 678)

सर्वत्र शुचयो धीराः सुकर्मबलगर्विताः ।
स्वकर्मनिहितमानः पापाः सर्वत्र शंकिताः ॥

जो पुरूष न्याय और उत्तम कर्मों के बल से गर्वित हैं वे पुरूष सब जगह प्रत्येक स्थिति में तथा प्रत्येक कार्य में धीर तथा पवित्र रहते हैं। उनको कहीं पर भी किसी प्रकार का भय नहीं होता है। परंतु जिन्होंने निंद्य तथा नीच कर्मों से अपनी आत्मा को पतित किया है, वे सब शंकित तथा भयभीत हैं।

गाली/अपमान रूपी निन्दा तथा गुण कथन रूपी प्रशंसा-

''स्तुति पुण्य गुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्य प्रसन्नधीः'' गुणों की कीर्ति, प्रशंसा ही स्तुति (प्रार्थना, पूजा, आरती, आराधना) है और जिसका मन प्रसन्न है ऐसा व्यक्ति ही प्रशंसक होता है, अर्थात् प्रशंसा से मन प्रसन्न होता है। इससे सिद्ध होता है कि महापुरुष, सज्जन पुरुष, गुणीजनों के गुणस्मरण, गुणानुवादन ही यथार्थ से पूजा, आराधना, प्रार्थना है ; जिससे मन प्रसन्न होता है, पुण्यबंध होता है। समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है कि -''तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिनः पुनाति चित्तः दुरिताञ्जभ्यो'' हे भगवन् ! आपकी पुण्य गुण स्मृति से मन पवित्र होता है और पाप कलंक, दोष दूर होते हैं। इसलिए कवि ने कहा भी है कि -

ऐसी वाणी बोलिए मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे आपहु शीतल होय॥

अर्थात् ऐसे वचन बोलने चाहिए जिससे अपना मन पवित्र हो, शीतल हो और दूसरे भी प्रसन्न हो।

इससे विपरीत निंदा है जिसे गाली, अपमान, भर्त्सना, चुगली आदि शब्द से अभिव्यक्त किया जाता हैं। अपमान का अर्थ-जो मूल्य है, जो गुण है उसका अवमूल्यन करना है, घटाना है, कम आंकना है। पूर्वाचार्यों ने कहा है कि जो दूसरों की निंदा करता है, कलंकित करता है, कीर्ति को हानि पहुँचाता है, वह उस व्यक्ति की हत्या करने के पाप से भी अधिक पाप करता है क्योंकि शरीर तो कुछ दिन स्थायी है, उसका मरण होना सुनिश्चित है परंतु कीर्ति तो चिर स्थायी है। इसलिए कीर्ति का हनन शरीर के हनन से भी ज्यादा पापदायी है।

देखने में, सुनने में, अनुभव में आता है कि तीर्थक्षेत्र, मंदिर, धर्मक्षेत्र, मूर्ति, प्रचीन अविद्यमान महापुरुष, धार्मिकपुरुष, धर्मप्रचारक, साधु-संत, तीर्थंकर, अवतारी पुरुष, भगवान्, पैगम्बर, अल्लाह, ईसामसीह आदि की पूजा, आराधना, आरती आदि प्रचुर धन, समय, श्रम लगाकर करते हैं, परंतु विद्यमान गुणीजन, धार्मिक पुरुष की पूजा आराधना के विपरीत उनकी निंदा अपमान, अनादर आदि अधिक करते हैं। इसलिए कहा जाता है कि -

''जिंदा बाप से लड्डमलड्डा मरे हुए को पहुँचावें गंगा''

अर्थात् जीवित माता -पिता , गुरुजनों का अनादर करते हैं परंतु उनकी मृत्यु के पश्चात् उनका आदर सत्कार करते हैं। यथा -

गतानुगतिकः लोकः न लोकः पारमार्थिकः।
प्रत्येक्षे मार्यते गावः गोमेधेष्वऽपि पूज्यते॥

लोक अर्थात् सामान्यजन अंधानुकरण करने वाले है। वे यथार्थ को नहीं जानते हैं, मानते हैं, न अनुकरण ही करते हैं। जैसा कि गाय(पशु-पक्षी) आदि को मारने वाले गोबर की पूजा करते हैं। जैसे भारत में गोवर्धन पूजा में गाय के गोबर की पूजा करेंगे, परंतु बूचडखाने में गाय की हत्या करेंगे। पुण्य या पाप मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से होता है। कोई अच्छे कार्य करते हैं तो उनकी प्रंशसा करने से हमें भी उसी प्रकार पुण्य बंध होगा व गुणों की प्राप्ति होगी। '' वन्दे तद्गुण लब्धये '' सूत्र भी यही शिक्षा देता है। अर्थात् गुण की प्राप्ति के लिए वंदना करो, प्रशंसा करो। इसी प्रकार दुर्गुण या दुर्गुणों की प्रशंसा करने पर पाप बंध होता है और दुर्गुणों की प्रप्ति होती है। अनुभव में आता है जो अच्छे कार्य करते हैं उनकी प्रशंसा के परिवर्तन में उनकी निंदा, उनका विरोध ज्यादा होता है जितना की दुर्गुण तथा दुर्गुणी का विरोध नहीं होता है। जो गुणी है, जो विकास करता है उससे ज्यादा ईर्ष्या करते हैं परंतु दुर्गुणी की प्रशंसा करते हैं, दुर्गुणों को अपनाते हैं, उसे प्यार करते हैं। इन सभी कारणों से मानव में गुण वृद्धि नहीं होती है, विकास नहीं होता है, अतएव कम से कम गुण एवं गुणी की प्रशंसा नहीं कर पाते हैं तो उनसे ईर्ष्या-द्वेष, विरोध नहीं करना चाहिए। तथा गुण यदि नहीं अपना सकते हैं तो गुण द्वेष नहीं करना चाहिए, उसका विरोध नहीं करना चाहिए।

भारत में प्रायोगिक रूप से जितना आदर-सत्कार, बहुमान, हीरो-हीरोईनों (नट-नटी), खिलाडी, नेता, अभिनेता, खलनेता, सत्ता-सम्पत्ति तथा प्रसिद्धि वालों का होता है उतना साधु-सन्त, ज्ञानी, चारित्र निष्ठ, सादा जीवन उच्च विचार, सेवा-भक्ति वालों का नहीं होता है। उल्टा इन्हें Out of Date, पिछडे, भोन्दु, असहाय, अयोग्य, नौकर, गरीब मानते हैं। इन सब कारणों से भी भारत की प्रतिभा, महानता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, गुणवत्ता का विकास समुचित रूप से नहीं हो पा रहा हैं। जैसा कि नेता, अभिनेता, खेलनेता, सत्ता-संपत्ति वालों की प्रशंसा होती है।

स्व-दोषों की स्वयं के द्वारा निंदा, गर्हा जैसा कि अनिवार्य है वैसा ही स्व-गुणों का उपबृहण (संरक्षण, संवर्धन, सदुपयोग) भी अनिवार्य है। क्योंकि इस के बिना न स्व-दोष दूर होते हैं न गुणों की पवित्रता, गुणवत्ता में समृद्धि होती है। परंतु दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिए।

वैज्ञानिक जैन धर्म प्रभावना हेतु "मेरी अमेरिका यात्रा"

प्रो. डॉ. एन. एल. कछारा

श्री कनकनंदी जी गुरूदेव वैज्ञानिक धर्माचार्य की उत्कंठ अभिलाषा थी कि उदारवादी वैज्ञानिक जैन धर्म का प्रचार जन कल्याण हेतु विश्व में होना चाहिए। उनकी प्रेरणा से ही अमेरिका यात्रा की योजना बनी। इसमें गुरूदेव के आशीर्वाद के साथ–साथ शुभ चिन्तकों का सहयोग भी प्राप्त हुआ। अवसर उपस्थित हुआ "जैना" अमेरिका को द्विवार्षिक सम्मेलन का प्रो.जगमोहन हुमड की अनुशंषा में जैन समारोह में वक्तव्य देने का निमंत्रण प्राप्त हुआ। आर्थिक सहयोग के बिना एक अवसर का लाभ उठाना कठिन "धर्म दर्शन सेवा संस्थान" के संरक्षक श्री प्रद्युम्न झवेरी के केलीफोर्निया अमेरिका के सहयोग प्रस्ताव से यह समस्या हल हुई।

"जैना" के प्रस्ताव का आधार था दिसम्बर 2004 में प्रकाशित मेरी पुस्तक "जैन कर्म सिद्धान्त, अध्यात्म और विज्ञान" इसी विषय पर सम्मेलन में वार्ता प्रस्तुत करने का निश्चय हुआ। विचार हुआ कि विषय वस्तु को विदेश में सर्व सुलभ करने हेतु वार्ता की भाषा अंग्रेजी ही होनी चाहिए। शीघ्रता से उपरोक्त पुस्तक को संक्षेप में अंग्रेजी में अनुवाद कर तथा उसमें कुछ अतिरिक्त तथ्यों को जोडकर एक नई पुस्तक तैयार की गई।

JAINA DOCTRINE OF KARMA The Religious and Scientific Dimensions. पुस्तक के प्रकाशन में परिवार जन का स्नेह भरा उत्साह बन पडा।

अमेरिका जैसे सुन्दर देश में जाने पर केवल एक वार्ता से प्रयोजन की सिद्धि नहीं मानी जा सकती। प्रयास चल पडा और प्रिय भाई डॉ. गणेश हडपावत आदि की सहायता से अमेरिका में अन्य केन्द्रों पर वार्ता देने की योजना बन गई। इस उत्साहवर्धन सहयोग को देखकर जैन धर्म के अन्य वैज्ञानिक पक्षों पर भी वार्ता प्रस्तुत करने का मानस बना। आ. श्री की भावना को देखकर "ब्रह्माण्ड और षट्द्रव्य" तथा कर्म सिद्धान्त के अन्य संबंधित विषयों पर विस्तृत वार्ता पावर पॉइन्ट पर तैयार की गई थी।

अमेरिका यात्रा के लिए आ. श्री का उत्साह अनवरत बना रहा; उन्होनें सार्वजनिक समारोहों में आशीर्वाद भी प्रदान किया और सतत् मार्गदर्शन करते रहे। उनके उत्साह और आकांक्षाओं से अच्छा प्रभाव बन पडा; यात्रा की अच्छी तैयारी

हो गई। यात्रा की योजना बनाना समय और श्रम साध्य का कार्य है। डॉ. गणेश हडपावत और अन्य की सहायता से लगभग 5 सप्ताह का कार्यक्रम तैयार हो गया।

दिनांक 23 जुन को उदयपुर से मुंबई के लिए प्रस्थान हुआ। रेलवे स्टेशन पर परिवारजन और संस्थान के कुछ सदस्यों ने भावभीनी विदाई दी।

हवाई जहाज इंग्लैंड में मैनचेस्टर क्षेत्र के ऊपर से गुजरा तो इंग्लैण्ड प्रवास की पुरानी स्मृति उभर आई। इसी सेल फोड विश्वविद्यालय से मैंने 32 वर्ष पूर्व Ph.D. की उपाधि प्राप्त की थी तथा कुछ समय अध्यापन का कार्य भी किया था। न्यूयार्क तक की यात्रा में लगभग 9½ घंटे का समय लगा और स्थानीय समय के अनुसार शाम को 6 बजे न्यूर्याक पहुँचे। पूरी यात्रा में सूर्यदेव के दर्शन होते रहे। प्रश्न उठता है कि इतना लंबा दिन होने पर भोजन कब किया जाये। सामान्य नियम असफल हो जाते हैं, विवेक का ही सहारा लेना पडता है।

न्यूयार्क हवाई अड्डे पर लगेज प्राप्त हो जाने के बाद चिंता हुई कि अब आगे की यात्रा कैसे होगी। सेन फ्रांसिस्कों की यात्रा के लिए मुंबई की फ्लाइट से टिकिट था जो छूट गयी थी। जैसे ही बेगेज क्लेम कक्ष से बाहर निकला डेल्टा एअरलाइन का काउन्टर दिखाई दिया। मैं उनके पास गया और अपनी समस्या बताई कि किस प्रकार मेरी प्रात:कालीन फ्लाइट छूट गयी। उत्तर मिला यह आपकी गलती से नहीं हुआ है इसलिए हम आपको अगली फ्लाइट में सीट दे देते हैं। सौभाग्य से सीट खाली भी थी। अब साँस आई, समस्या का समाधान हो गया। अहसास हुआ कि गुरूदेव के आशीर्वाद से कठिनाईयाँ किस प्रकार आसान हो जाती हैं। तुरन्त प्रद्युम्नजी को सूचना दी कि रात को 1½ बजे सेन फ्रांसिस्को पहुँच रहा हूँ। हवाई अड्डे पर दोनों पति–पत्नी उपस्थित थे। स्नेह भरा अभिवादन हुआ। 2 बजे उनके घर पहुँचे और कुछ विश्राम किया। सुबह 7 बजे फिर स्थानीय दर्शन यात्रा पर जाना था। मुंबई से सेन फ्रांसिस्को की लंबी यात्रा में जेटलेग की समस्या आ जाती है और विश्राम की आवश्यकता होती है; परन्तु मेरे पास विश्राम का समय ही नहीं था।

28 जून की यात्रा यशोमति नामक दर्शनिक स्थल की थी। जैना सम्मेलन के लिए आये लगभग 50 यात्री इसमें सम्मलित हुए। लगभग 4 घंटे की बस यात्रा में यात्रियों ने परस्पर परिचय के साथ विचारों का आदान–प्रदान किया तथा भगवान् के भजन–स्तुति में समय का उपयोग हुआ। अमेरिका के विभिन्न प्रांतों से आये यात्रियों से निकट से परिचय करने का अवसर प्राप्त हुआ। भारत से मैं अकेला यात्री था तथा एक परिवार केनेडा से था।

29 जून की यात्रा में एक्वेरियम तथा ''17 मील ड्राइव'' नाम से जाने कारमेल क्षेत्र का भ्रमण हुआ। 30 जून को सेन फ्रांसिस्को शहर के भ्रमण के लिए ले जाया गया यह अमेरिका के सुन्दरतम शहरों में एक है।

1 जुलाई को कन्वेन्शन प्रारम्भ हुआ। कन्वेन्शन सान्ता क्लारा कन्वेन्शन सेन्टर में आयोजित किया गया। दो मंजिले इस सेन्टर में अनेक प्रकार की सुविधायें उपलब्ध हैं। एक बडा आडिटोरियम है जिसमें 5 हजार व्यक्ति तक 1200 से ऊपर व्यक्ति कुर्सियों पर बैठकर भोजन कक्ष, मीटिंग कक्ष, लॉएन्ज तथा और भी अनेक सुविधायें उपलब्ध हैं। पूरा सेन्टर आधुनिक सुविधाओं से सुसज्जित है। कन्वेन्शन सेन्टर एक बडे होटल (वोस्टिन) से जुडा हुआ है। कन्वेन्शन में लगभग 3½ हजार डेलीगेट्सों ने पंजीयन कराया। मुझे वेस्टिन हॉटल में ही कमरा दिया गया। मेरे हॉटल और पंजीकरण का व्यय ''जैना'' द्वारा वहन किया गया। भोजन की व्यवस्था बहुत सुंदर थी। भोजन सादा–सात्विक–स्वादिष्ट था। दूध का सेवन नहीं करने वालों के लिए अलग से व्यवस्था की गई थी, रात्रि भोजन वर्जित था।

एक जुलाई को ही पाठशाला शिक्षकों का सम्मेलन रखा गया। अमेरिका में विभिन्न जैन सेन्टरों पर पाठशालायें खोली गई हैं जहाँ बालकों और युवाओं (विशेष तौर पर वे जो इसी देश में पैदा हुए हैं) को जैन धर्म की शिक्षा दी जाती है। सामान्यतया सप्ताह में एक दिन कक्षा लगती है और विद्वान्–शिक्षक बिना वेतन के कार्य करते हैं। पाठशाला के लिए ''जैना'' द्वारा ही पाठ्यक्रम तैयार किया गया है तथा अंग्रेजी में पुस्तकें लिखी गई हैं।

विद्याथियों के चार वर्ग बनाये गये हैं। छोटे बालक 5 से 9 वर्ष, 10 से 12 वर्ष, 13 से 15 वर्ष तथा 16 वर्ष से ऊपर के तरूण, युवा और प्रौढ। सब पाठ्यक्रम अलग–अलग है जिसमें सिद्धान्त, शिक्षा, सभी प्रकार की पूजा–पाठ पद्धति, जैनभोजन, संस्कार, रहन–सहन, संस्कृति, पर्व, पर्यावरण, परिस्थिति की आदि की शिक्षा दी जाती है। प्रात:काल के सत्र में विभिन्न सेन्टरों के चयनित शिक्षकों द्वारा अपने बहुत सशक्त और अन्य विषयों पर चर्चा हुई। सारा आयोजन बहुत ही सफल रहा।

कन्वेन्शन डेलीगेट्स का पंजीकरण सुबह सुबह से ही प्रारम्भ हो गया था जो दिनभर चलता रहा। कुल मिलाकर लगभग 3½ हजार डेलीगेट्सों ने पंजीकरण करवाया। सभी को जैनधर्म पर दो पुस्तकें (गुजराती में) एक पुस्तक जैन भोजन पर, कन्वेन्शन की पुस्तिका तथा अन्य सामग्री दी गई।

दोपहर 4½ बजे कन्वेन्शन का अनौपचारिक प्रारम्भ धर्म गुरूओं के प्रवचन से किया गया। सभा में गुरूदेव चित्रभानुजी, आचार्य चन्दना जी, जिनचंद्राजी मा.सा., अपचंद्रजी मा.सा., माणक मुनि जी मा.सा. साध्वी शुभमजी, साध्वी विभाजी, समणी मधुरप्रज्ञा जी, चारित्रप्रज्ञाजी, सन्मतिप्रज्ञाजी आदि उपस्थित थे। सभी ने अपने प्रवचनों से आर्शीवाद एवं शुभकामनायें प्रेषित की।

अपरान्ह 6½ बजे प्रदर्शनी का उद्घाटन हुआ। प्रदर्शनी में जैनकला,शिल्प, पुस्तकें, कैसेट, योग शिक्षा आदि के कई स्टॉल लगाये गये। स्टॉल लगाने वालों में अमेरिका व भारत दोनों देशों के लोग थे। विभिन्न कलाकृतियों का विक्रय किया गया। रात को भारत से आये सेटेलाईट ग्रुप के द्वारा रास–गरवा का कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया।

दूसरे दिन सुबह 6½ से 7½ बजे तक योगशिक्षा आदि का कार्यक्रम रखा गया। इसमें प्रेक्षाध्यान, भक्तामरस्तोत्र का पाठ, णमोकार मंत्र का जाप, प्रतिक्रमण, योग, एरोबिक्स आदि का आयोजन अलग–अलग दस सत्रों में किया गया।

नाश्ते के बाद कन्वेशन का औपचारिक उद्घाटन हुआ। इसमें मुख्य अतिथि काग्रेंस मैंने डेविस कुसीनिच और डॉ विलियम लेशर थे। श्री डेनिस कुसीचिन वर्ष 2003 में ''गॉधी शांति'' पुरस्कार से सम्मानित किये गये थे। आप परमाणु बमों को नष्ट करना, महाद्वीपीय बेलेस्टीक मिसाइल को सीमित करना, अन्तरिक्ष युद्ध का निषेध और स्टारवार जैसे कार्यक्रमों को स्थगित करने के पक्षधर हैं तथा इसके लिए प्रयासरत हैं। आप शाकाहारी है तथा मानव अधिकार एवं प्राणी मात्र की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध हैं। डॉ. विलिययम लेशर विश्वधर्म सभा के ट्रस्टी मंडल के अध्यक्ष हैं तथा शिकांगों में लुधेरन थियोलॉजी स्कूल में एमेरिटस अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। इसके अतिरिक्त विश्व की अनेक धर्म संस्थाओं को अपनी सेवायें प्रदान कर रहें हैं। दोनों वक्ताओं ने वर्तमान समय में जैन धर्म की प्रासंगिकता को स्वीकार किया और कहा कि विश्व की अनेक समस्याओं का समाधान अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद–स्याद्वाद के सिद्धान्तों से संभव है। उन्होंने आशा प्रकट की कि भविष्य में विश्व में जैनधर्म की महत्वपूर्ण भूमिका होगी।

बाद के दिनों में दोपहर को कई समानान्तर ट्रेक चलाये गये जिनमे 21 विषय रखे गये तथा जो विशेष तौर से युवाओं के लिए थे सभी ट्रेकों में कुल 160 सत्र हुए प्रत्येक सत्र में वक्ता वक्ता को 75 मिनिट का समय दिया गया। जिसमे 15 मिनिट प्रश्नोत्तरी के लिए समय था। अधिकाँश वक्ता अमेरिका निवासी भारतीय जैन बंधु थे।

कुछ वक्ता भारत से आमन्त्रित किये गये थे । इन प्रोग्रामों में योरोप, केनेडा, अमेरिका भारत आदि देशों से डेलीगेट्स आये थे । समानान्तर 21 ट्रेक में 160 सत्र चलने से श्रोता बँट गये ।

''कर्म सिद्धान्त और उसके धार्मिक तथा वैज्ञानिक आयाम'' विषय पर मेरा व्याख्यान 2 जुलाई दोपहर को वेस्टिन हॉटल के एक सेमीनार हॉल में था। पूरा हॉल खचाखच भरा हुआ था। व्याख्यान अंग्रेजी में होने के कारण युवाओं की संख्या भी अच्छी थी। पावर पॉइन्ट की सहायता से प्रस्तुत व्याख्यान ने श्रोताओं को बहुत प्रभावित किया। कर्म सिद्धान्त का वैज्ञानिक विश्लेषण सुनने का उनका यह पहला अवसर था। व्याख्यान के बाद श्रोताओं ने प्रश्नों की झडी लगा दी। सभी कर्म सिद्धान्त और विज्ञान के सम्बन्ध को समझने के लिए आतुर थे। सभी श्रोताओं को इसी विषय पर अंग्रेजी में लिखी गई मेरी पुस्तक नि:शुल्क भेट में दी गई। छहों नगरों में आचार्य श्री के साहित्य व मेरे साहित्य का वितरण किया गया। सभी की राय थी कि सभी की मांग जैन धर्म के इसी प्रकार के विश्लेषण की है। सभी ने व्याख्यान की भूरि–भूरि प्रशंसा/सराहना की और कुछ ने मेरे ऑटोग्राफ भी लिए।

शाम को भोजन के उपरान्त सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन था जिसमें अमेरीका के विभिन्न जैन सेंटरों से आई टीमों की प्रतियोगितायें थी। सभी प्रस्तुतियाँ मनमोहक थी दर्शकों का भरपूर मनोरंजन हुआ।

3–4 जुलाई को प्रात: योग, पूजा आदि के कार्यक्रम रखे गये। 3 जुलाई को दोपहर दो घंटे का विशेष कार्यक्रम आयोजित किया गया। जिसमें जैना की 25 वर्षों की उपलब्धियों पर प्रकाश डाला गया और जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में एकता के ऊपर विचार विमर्श किया गया। ''विविधता में एकता'' विषय पर सभी धर्माचार्यों एवं प्रतिनिधियों ने अपने विचार व्यक्त किये। निष्कर्ष यह था कि जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के फूल मिलने से एक सुंदर गुलदस्ता तैयार हो जाता है उसी प्रकार सभी जैन सम्प्रदाय अपने अपने रंगों से एक इंद्रधनुषी रचना कर सकते हैं। सभी श्रोताओं ने एक शपथ पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसमें कहा गया था कि – '' मैं जैन हूँ और भ. महावीर तथा अन्य तीर्थङ्करों का अनुयायी होने के नाते मैं शपथ लेता हूँ कि मैं वैश्विक एकता, सहनशीलता और समता का व्यवहार करुँगा। मैं स्वीकार करता हूँ कि सभी जैन धर्म पालक चाहे वे किसी सम्प्रदाय या देश के हो का सम्मान और उनसे प्रेम करना मेरा कर्तव्य है। मैं सभी जैन सम्प्रदायों का और अपनी अपनी विधि से जैन सिद्धान्तों का पालन करके उनके अधिकारों का सम्मान करता हूँ। मैं सभी सम्प्रदायों

के पर्वों का भी सम्मान करता हूँ। मैं अन्त:करण से विश्व के सभी जैनियों के बीच एकता, बंधुत्व और सद्भावना चाहता हूँ। मैं कभी भी क्रिया काण्ड में परम्परागत भेद को एकता में बाधा नहीं बनने दूँगा। मैं भ. महावीर स्वामी के सिद्धान्तों का पालन करुँगा। अपने बच्चों को 'विविधता में एकता' का पाठ पढाऊँगा और उनकी अमूल्य जैन विरासत तथा उसकी आधुनिक जीवन में प्रासंगिकता का पूरा आदर करुँगा।''

इसी सत्र में आचार्य श्री सुशील कुमार (मरणोंपरान्त) और गुरुदेव चित्रभानु जी को ''विशेष जीवन काल उपलब्धी'' पुरस्कार से सम्मानित किया गया। भोजनोपरान्त रात्रि को गायिका अनुराधा पोडवाल व गायक मनहर के भजन संगीत का कार्यक्रम था जिसका श्रोताओं ने भरपूर आनन्द लिया।

4 जुलाई को प्रात: दस बजे समापन सत्र था इस अवसर पर सभी धर्माचार्यो के आशीर्वचन प्राप्त हुए तथा जैना संस्था के विभिन्न कार्यकर्ताओं, अधिकारियों और आयोजकों को सम्मानित किया गया। कन्वेन्शन की समाप्ति पर सभी लोगों ने परस्पर विदाई ली। मैं भी होटल से पुन: प्रद्युम्न झवेरी के यहाँ चला गया। इस सुंदर और भव्य समारोह की मधुर स्मृति हृदय पटल पर अङ्कित हो गई।

उद्घाटन सत्र में आचार्य पद्मसागर जी, आ. शिवमुनि जी, आ. बाहुबलि जी, आ. महाप्रज्ञजी एवं श्रद्धेय पारस भाई के वीडियों संदेश भी दिखाये गये। चार दिन कन्वेन्शन के व्यस्त कार्यक्रमों के बाद मेरे लिए तीन दिन विश्राम का समय था। इन दिनों मैंने स्थानीय स्थलों का भ्रमण किया। सान्ता क्लारा सेन्ट्रल पार्क पुस्तकालय देखा। दो मंजिल का भवन 80,000 वर्गफीट में बना हुआ है। इस पुस्तकालय में आधुनिकतम सुविधायें उपलब्ध हैं। सवा तीन लाख पुस्तकें, पत्रिकायें, कैसेट, सी.डी. व अन्य साम्रगी के लिए कुल 37,000 फुट लंबी सेल की व्यवस्था है। पुस्तकालय में ओडियो विजुअल साधनों और कम्प्यूटरों का भरपूर प्रयोग किया गया है। पहले तल पर बालकों, तरूणों तथा युवाओं के लिए साहित्य है तथा दूसरें तल पर स्थानीय इतिहास, पत्रिकायें, जनरल्स, संदर्भ पुस्तकों एवं भाषा कक्ष हैं। हर सेल की लाईन के साथ कम्प्यूटर टरमीनल रखा गया है जिस पर पुस्तकालय संबंधी संपूर्ण सूचनायें उपलब्ध हैं। यहाँ वीडियों और सी.डी. के भी कक्ष हैं। विशेष तौर पर बालकों और तरूणों के लिए, और इन्हें देखने के लिए जगह–जगह कई कम्प्यूटर उपलब्ध हैं। कुल मिलाकर 100 से अधिक कम्प्यूटर हैं जिनमें इंटरनेट की सुविधा भी है। यहाँ अन्य पुस्तकालयों में उपलब्ध साहित्य को भी देखा और प्रिंट किया जा सकता है। कम्प्यूटर ट्रेनिंग कक्ष में 16 वर्क स्टेशन हैं जहाँ इंटरनेट उपयोग का प्रशिक्षण दिया जाता है। भवन में फोटो

कॉपी और केफेकी सुविधा है तथा बाहर 230 वाहन पार्किंग की जगह है। पुस्तकालय से लगा हुआ शहर का सबसे बडा पार्क है।

8 जुलाई को प्रातः यूस्टन पहुँचा वहाँ प्रीति बहिन के यहाँ भोजन करके मंदिर गये जहाँ मेरा पहिला व्याख्यान ''ब्रह्माण्ड और षट्द्रव्य ''पर था। जिसमें मैने जैन मान्यता का विज्ञान की मान्यताओं के साथ तुलनात्मक प्रस्तुति दी। सभी लोगों के लिए इस प्रकार का वैज्ञानिक विश्लेषण सुनने का पहला अवसर था। और उन्हें वह बहुत पसंद आया। दूसरे दिन 10½ बजे दूसरा व्याख्यान था। ''जैनाकन्वेन्शन'' में कर्म सिद्धान्त पर मैंने जो व्याख्यान दिया था उसमें विषय वस्तु को देखते हुए समय कम था चूँकि यहाँ समय की सीमा नहीं थी अतः मैने इस व्याखान के दो भाग किये। आज पहला भाग प्रस्तुत करने के बाद प्रश्नोत्तर हुए। 1½ घंटे के समय में श्रोता एकदम नयी प्रकार की प्रस्तुति देखकर बहुत प्रभावित हुए। दूसरा भाग इसी प्रकार अगले दिन 10 जुलाई को प्रस्तुत किया गया तथा सभी श्रोताओं ने कहा कि हम चाहते हैं कि आप यूस्टन में पुनःआकर हमारे युवाओं के समक्ष अपने व्याख्यान दें जो इसी प्रकार के वैज्ञानिक तर्क चाहते हैं। इन युवाओं का सम्मेलन 11 जुलाई 2006 में होना है।

9 जुलाई को दोपहर का भोजन श्री जैनेश भाई के यहाँ था। जैनेश भाई मेकेनीकल इंजीनियर हैं तथा एक सॉफ्टवेयर कंपनी चलाते हैं। व्यस्त होने के बाद भी बालकों व युवाओं को जैनधर्म का प्रशिक्षण देते हैं। इस कार्य के लिए उन्होंने जैन स्लाइड कम्प्यूटर पर तैयार की थी वह मुझे दिखाई। शाम का भोजन कीर्ति बहिन के यहाँ हुआ। उन्होंने 40–50 हिन्दू, जैन व अन्य लोगों को आमन्त्रित किया था तथा सत्संग का कार्यक्रम रखा था। मैंने जीवन जीने की कला को उपासना, साधना और आराधना की पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत किया जो सभी को बहुत पसंद आया।

10 जुलाई दोपहर का भोजन किशोर भाई के यहाँ किया। किशोर भाई एकाउन्टस का कार्य देखते हैं यहाँ यूस्टन से महाप्रज्ञजी के जन्मदिवस पर श्रमणी जी का फोन आया कि आपको इस कार्यक्रम में अवश्य सम्मलित होना है। मैं प्रेक्षाध्यान केन्द्र पर उपस्थित हो गया वहाँ महाप्रज्ञजी की अहिंसायात्रा का वीडियों दिखाया जा रहा था। वीडियो बीच में ही बंद करके मुझे बोलने के लिए कहा गया। मैंने व्याख्यान दिया। मुझे भेट में एक पुस्तक प्रदान की। श्रमणी जी ने बताया कि प्रेक्षाध्यान के ऐसे केन्द्र लॉन्स एन्जिल्सि, शिकांगों, न्यूजर्सी, लंदन में भी हैं। उन्होंने आग्रह किया कि आपको समय मिलने पर अन्य केन्द्रों पर भी जाना चाहिए।

यूस्टन में नासा का मिशन कन्ट्रोल केन्द्र है। मैं सुबह 9 बजे इस केन्द्र को

देखने गया। यह केन्द्र अपने आप में पूरा शहर जैसा है। जगह–जगह शोध भवन बने हुए हैं। 1600 एकड भूमि में बसे इस केन्द्र में 14,000 से अधिक लोग कार्य करते हैं। यहाँ से अंतरिक्ष यान को छोडने के बाद नियन्त्रित और मॉनीटर किया जाता है यहाँ अंतरिक्ष यात्रियों को प्रशिक्षण दिया जाता है। चंद्रमा से लाये गये पत्थर यहाँ संग्रहित हैं तथा इनपर वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

टेक्सास प्रांत की सीमा से लगा हुआ ओवलाहोम प्रांत के स्टीलवाटर शहर में डॉ. पारसमलजी अग्रवाल रहते हैं। डॉ. अग्रवाल जैन धर्म के अच्छे ज्ञाता है तथा इसके वैज्ञानिक पक्ष पर उन्होंने लेख भी लिखे हैं। आ. श्री कनकनंदी जी गुरूदेव ने भारत छोडने के पहले मुझे आदेश दिया था में इनसे अवश्य संपर्क करूँ एवं इन्हें आ. श्री के कार्यक्रमों व भावनाओं से अवगत कराऊँ। डॉ. अग्रवाल से ई. मेल से सम्पर्क चलता रहा, परंतु लम्बे समय तक मिलने का कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं बन पाया अन्य कार्यक्रमों के साथ 15 जुलाई को डलास पहुँचा और डॉ. अग्रवाल से मिलन हुआ। डॉ. अग्रवाल ने आ. श्री के लिए जैन धर्म, अनेकांत सिद्धान्त, कर्मसिद्धान्त, वस्तु व्यवस्था से संबंधित आलेखों की सी.डी. भेट में दी। डॉ. अग्रवाल को आ. श्री स्वरचित साहित्य भेटरूप में प्रदान किया।

16 जुलाई को अपरान्ह तीन बजे स्थानीय जैन मंदिर के प्रागंण में मेरा डलास में पहला व्याख्यान हुआ। मेरी वार्ता का विषय ''ब्रह्माण्ड और षट्द्रव्य'' था।

17 जुलाई रविवार को दूसरा व्याख्यान प्रातःकाल ही रखा गया। भगवान् की प्रार्थना, स्तुति, मंगलाचरण के बाद मैंने 'कर्मसिद्धान्त' पर वार्ता प्रस्तुत की। सारा हॉल खचाखच भरा हुआ था तथा सभी लोगों ने कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिक व्याख्या को बहुत अधिक पसंद किया एवं सराहा। संघ के अध्यक्ष ने कहा कि वे मेरे दोनों व्याख्यानों की स्लाइडें अपनी वेबसाइड पर देना चाहेगे मैंने दोनों स्लाइडें उन्हैं उपलब्ध करा दी । भगवान् जी की आरती के बाद ये कार्यक्रम समाप्त हुआ और सामूहिक भोजन कराया गया।

20 जुलाई को फिनिक्स पहुँचा । रास्ते में प्रणव भाई से धार्मिक चर्चा चलती रही । फिनिक्स में कोई जैन मंदिर नहीं है इसलिए व्याख्यान निजी घरों पर ही रखे गये।२५ जुलाई को कर्म सिद्धान्त पर और २६ जुलाई को ''ब्रह्माण्ड व षट्द्रव्यों'' पर वार्ता हुई। सभी ने वैज्ञानिक व्याख्या को बहुत सराहा। मैने इन्हें आ.श्री के अन्य कार्यक्रमों के बारे में भी बताया तो डॉ. बोबडा ने बहुत उत्सुकता प्रकट की। उन्होंने इस देश में चल रही पाठशालाओं के लिए प्रवेशिका पुस्तकें और ''कौन बनेगा

ज्ञानवान '' कम्प्यूटरराइज्ड प्रतियोगिता के प्रश्नों के अंग्रेजी संस्करण की माँग की। वे इस बात से भी प्रभावित थे कि आ. श्री जैन संप्रदायों के एकीकरण के पक्षधर हैं तथा इसके लिए प्रयासरत हैं । मैंने भारत में आते ही पुस्तकें व प्रश्नोत्तरों की सीडी प्रेषित की है ।

31 जुलाई रात्रि आठ बजे न्युयार्क के जे. एफ. हवाई अड्डे से मेरा वापसी का फ्लाईट था। 8½ घंटे की यात्रा के बाद दूसरे विमान के द्वारा मुंबई आया। 3 अगस्त प्रात: 9 बजे उदयपुर आया तो मैंने चैन की सास ली। अपने जीवन के सबसे लम्बे और प्रयोजन पूर्ण यात्रा की समाप्ति हुई। मन में एक उपलब्धता का अहसास और संतोष था। लगभग पांच सप्ताह की इस यात्रा में जैन धर्म के वैज्ञानिक पक्षों को विश्व के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र में जैन बंधुओं के समक्ष प्रस्तुति का प्रयास सफलता के साथ समाप्त हुआ।

उदयपुर आकर मैंने गुरुदेव आ. श्री कनकनंदी जी ससंघ का दर्शन किया। पूर्ण संघ ने प्रसन्नता से मेरी विदेश यात्रा वृतान्त सुना और विभिन्न जिज्ञासायें प्रगट की। रविवार को आ. श्री की प्रवचन सभा में मैंने समस्त वृतान्त कह सुनाया। इस सभा में प्रो. प्रेमसुमन जैन, डॉ. रजनीश शुक्ला, नारायण सेवा संस्थान के संस्थापक कैलाश अग्रवाल 'मानव' का भी उद्बोधन हुआ तथा समाज के द्वारा हम सब का सम्मान किया गया। आ. श्री का मार्मिक, उदारवादी, वैज्ञानिक, तेजस्वी, संघटनात्मक प्रवचन हुआ। कैलाश जी अग्रवाल ने आचार्य श्री की भावना, कार्य योजना, त्याग साहित्य की श्रेष्ठता से प्रभावित होकर नारायण सेवा संस्थान की ओर से 25000 रुपये आचार्य श्री के साहित्य प्रकाशन में देने की घोषणा की। ॐ अर्हम्

केन्द्रीय कारागृह में प्रवचन के अवसर पर आ. श्री कनकनंदीजी गुरूदेव ससंघ एवं आर्यिका सुप्रकाशमती माताजी ससंघ

षष्टम् अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठि तेरापंथ भवन उदयपुर
(आ.श्री कनकनंदी जी गुरूदेव के साहित्य विक्रय केन्द्र में स्वयं सेवक)

आचार्य श्री के शोधपूर्ण ग्रंथों के लिए संम्पर्क करें।

धर्म दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा - श्री छोटूलाल चित्तौडा, चंद्रप्रभ दि. जैन मंदिर आयड,

आयड बसस्टॉप के पास, उदयपुर - 313001 (राज.)

फोन :- (0294) 2413565